कश्मीरी स्तोत्रपरम्परा एवं दीनाक्रन्दन स्तोत्र

केदार नाथ शर्मा

भारत का मुकुट भूत कश्मीर प्रदेश प्रत्यभिज्ञा-दर्शन, काव्य शास्त्र एवं इतिहास ग्रन्थों के लेखन के लिए तो प्रसिद्ध है ही, यहाँ के भक्त कवियों ने अनेक उत्कृष्ट स्तोत्र काव्यों की रचना भी की है। ये स्तोत्र इतने भावपूर्ण हैं कि सहृदय पाठक के हृदय को भक्ति में लीन करने में नितान्त सक्षम हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कश्मीरी कवियों द्वारा लिखित बारह स्तुति काव्यों–1. स्रग्धरा स्तोत्र, 2. देवीशतक, 3. शिव स्तोत्रावली, 4. भैरव स्तोत्र, 5. क्रम स्तोत्र, 6. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, 7. अनुभव निवेदन स्तोत्र, 8. स्तवचिन्तामणि, 9. दीनाक्रन्दन स्तोत्र, 10. अर्धनारीश्वरस्तोत्र, 11. स्तुतिकुसुमाञ्जलि एवं 12. ईश्वरशतक-का समीक्षात्मक विवरण के साथ लोष्टक कृत **दीनाक्रन्दन स्तोत्र का दार्शनिक एवं साहित्यिक** दोनों दृष्टियों से अध्ययन किया गया है।

भक्तिमय स्तुति काव्यों में रुचि रखनेवाले पाठकों के लिए प्रस्तुत पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

ISBN : 81-7854-048-7 मूल्य : 350.00

कश्मीरी स्तोत्रपरम्परा
एवं
दीनाक्रन्दन स्तोत्र

नान्दीवाक् :

कुलपति प्रो० राजेन्द्र मिश्र

डॉ० केदार नाथ शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली–110007
फोन : 23850287, 30919869
ई-मेल : easternbook@mantraonline.com

प्रथम संस्करण : 2004

© लेखक

मूल्य : 350.00

ISBN : 81-7854-048-7

टाईप सेटिंग
क्रियेटिव ग्राफिक्स
फोन० 55290641

मुद्रक
शाम प्रिंटिंग एजेन्सी, दिल्ली

समर्पण

शिष्यानुरागिभ्यां ताभ्यां गुरुभ्यां श्रद्धया मया।
वेदरामप्रतापाभ्यां कृतिरेषा समर्प्यते।।

[illegible]

[illegible]
[illegible]

नान्दीवाक्

महाकवि लोष्टक-प्रणीत दीनाक्रन्दनस्तोत्र का अध्ययन मैंने 1965 ई० में अपने डी० फिल्० शोधकार्य की अवधि में किया था। यह लघुकाव्य निर्णयसागर प्रेस ने काव्यमाला की चतुर्दश गुच्छक सीरीज़ में किया था जिनमें कुल 144 लघुग्रन्थों का प्रकाशन हुआ था। अपनी मञ्जुल पदशय्या, हृद्यानवद्य संवेदना तथा सरल-मधुर शैली के कारण तभी यह ललित काव्य हृदय में रच-बस गया था।

काश्मीर की सारस्वतविभा-मण्डित भूमि में जहाँ आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, वामन एवं उद्भट जैसे चूडान्त अलङ्कारशास्त्री आचार्य हुए, वसुगुप्त, उत्पल, लक्ष्मणगुप्त, अभिनव गुप्त, क्षेमराज एवं शितिकण्ठ-सरीखे साधनाप्रवण प्रत्यभिज्ञाशास्त्री हुए, वहीं मंखक, विल्हण एवं लोष्टक जैसे रसपेशल कवि भी हुए। क्षेमेन्द्र को तो मैं संस्कृत का प्रथम जनकवि मानता हूँ जिन्होंने काव्य की पुरानी लीक से अलग हट कर, स्वयुगीन लोक प्रवृत्तियों को कविता का वर्ण्यविषय बनाया। इसके प्रमाण हैं उनकी कलाविलास एवं दर्प-दलन सरीखी कृतियाँ।

श्रीकण्ठचरितकार मंखक ने महाकाव्य के 25 वें सर्ग में एक ऐसी सुकविसमज्या का वर्णन किया है जिसका प्रवर्तन स्वयं कवि के अग्रज अलङ्कार एवं महाराज जयसिंह के अमात्य लङ्कक—समवेतरूप से किया करते थे। इसी गोष्ठी में काव्यपाठ करने वाले कवियों में महाकवि लोष्टक एवं उनके यशस्वी पिताश्री रम्यदेव भी थे। मंखक के इस प्रामाण्य से लोष्टक का, जयसिंह का समसामयिक होना (1125-1175 ई०) सिद्ध हो जाता है।

महाकवि लोष्टक अपने यशोऽवदात पिता रम्यदेव की ही भाँति उच्चकोटि के विद्वान् एवं प्रतिभाधुरीण कवि थे। वह देववाणी संस्कृत के साथ ही साथ, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची एवं देशजा (संभवतः अपनी मातृभाषा) में भी पारंगत थे। श्रीकण्ठचरितकार मंखक की एक प्रशस्ति से इसका प्रामाण्य मिलता है—

वाग्देवतालिनीलीलाधूतपक्षतिचातुरीम्।
वदनाम्बुरुहे यस्य भाषा षड्धिशेरते।।

महाकवि लोष्टक ने जीवन का सन्ध्याकाल भूतभावन शिव की पुरी वाराणसी में व्यतीत किया और यहीं उन्होंने अपनी कालजयी काव्यकृति 'दीनाक्रन्दनस्तोत्र' का प्रणयन भी किया जिसमें भगवान्-पार्वतीश्वर के प्रति अर्पित कवि के 54 श्लोक हैं। इन श्लोकों में, स्तोत्रकाव्यों की प्रकृति के ही अनुसार, कवि ने आत्मोद्धारार्थ नानाविध भाव अभिव्यक्त किये हैं भगवान् विश्वेश्वर के प्रति। इन्हीं भावों में विद्यमान है कवि की निरभिमानिता, आर्ति, विनयशीलता, भक्तजनोचित निर्बन्धपरायणता तथा वाक्चातुर्य। आत्मोद्धार के लिये प्रस्तुत किये गये तर्क तो सहृदय पाठक को अश्रुविगलित कर देते हैं। परवर्ती युग में वैसी भावच्छटा एकमात्र पण्डितराज जगन्नाथ के ही स्तोत्रों में मिल पाती है। जगन्नाथ के 'सुरधुनि! समुद्धार समयः' की ही शैली में लोष्टक भी अपने पापों को गिनाते हुए भगवान् चन्द्रमौलि से उद्धार की प्रार्थना करते हैं—

कृत्वा पापमसावप्रोष्यत निजः कायो न दीनो जनो
वैवश्याल्लुठितं चिरं चरणयोः स्त्रीणां गुरूणां न तु।
लोभोऽकारि धने मया, न सुकृते तेनाऽनुतप्ये महत्।
किं शक्यं मम तत्र कर्तुमधुना नाथ! त्वमेका गतिः।।

मेरे परमप्रिय अनुजरत्न डॉ० केदारनाथ शर्मा जी ने वस्तुतः संस्कृतजगत् को अतिशय उपकृत किया है इस कालजयी कृति का राष्ट्रभाषा हिन्दी में रूपान्तर करके। डॉ० शर्मा की कविविषयक साङ्गोपाङ्ग भूमिका के साथ यह ललितोचितसन्निवेश-चारु स्तोत्रकाव्य अब प्रकाशित हो रहा है—यह सहृदय पाठकों के लिये सौभाग्य का विषय है। अनुवाद के साथ टिप्पणी भी दी गई है, जिसमें स्तोत्रगंत पद्यों की रस, भाव, अलङ्कार आदि की दृष्टि से समीक्षा की गई है। 'कश्मीरी स्तोत्र परम्परा में दीनाक्रन्दन स्तोत्र का स्थान' शीर्षक के अन्तर्गत द्वादश स्तोत्र काव्यों का परिचय दिया गया है। परिशिष्ट में काश्मीरक स्तोत्र काव्यों का सङ्ग्रह है, जो बहुत उपयोगी है।

डॉ० केदारनाथ शर्मा जी अर्वाचीन संस्कृत-समाज के नित्यप्रबुद्ध प्रहरी हैं। एक कर्तव्यनिष्ठ, नित्याध्यवसायी प्राध्यापक होने के साथ ही साथ वह अत्यन्त गहन अध्येता अनुसन्धाता तथा आर्जवशील विद्वान् हैं। वह व्याकरण, सहित्य एवं दर्शन की त्रिपुटी में तो निष्णात हैं ही, आधुनिक भाषा विज्ञान एवं संस्कृत के संगणकीय प्रयोग (Computational Sanskrit) में भी अत्यन्त पारंगत है। उनकी इसी विशिष्टता के कारण जम्मू विश्वविद्यालय का संस्कृत-विभाग संस्कृत की संगणकीय शिक्षा का केन्द्र बनता जा रहा है।

ऐसे मनीषी युवा विद्वान् द्वारा महाकवि लोष्टक की यशस्विनी कृति का प्रकाशित किया जाना गौरव की बात है। मैं श्री शर्मा जी को एतदर्थ भूरिशः आशीः वितरित करता हूँ तथा संस्कृत-जगत् की ओर से उनके सारस्वतोपायन का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

कुलपति-निवास
5 मई 2003 ई०

सस्नेह
अभिराज राजेन्द्र मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ० प्र०)

प्रस्तावना

अस्ति कश्मीरभूमिः सा भारतमूर्ध्नि संस्थिता।
शारदापरनाम्नी या कुङ्कुमकवितयोः स्थली।।1।।
वेद-वेदाङ्गमर्मज्ञा नानाशास्त्रविचक्षणाः।
दार्शनिका महीयांसो बहुभाषाविदो बुधाः।।2।।
ज्ञान-विज्ञाननिष्णाता आचार्याः काव्यशास्त्रिणः।
अत्र जाता असङ्ख्याकाः कवयः क्रान्तदर्शिनः।।3।।
काव्यं स्फुरच्चमत्कारं ध्वन्यलङ्कारमण्डितम्।
रसान्वितं सशब्दार्थं सर्वमोदकरं भवेत्।।4।।
तस्य कवेः कवित्वं नो नापि काव्यस्य काव्यता।
नास्ति यत्र चमत्कारो रसालङ्कारमध्यगः।।5।।
कविभिः काव्यशास्त्रज्ञैः प्रत्यक्षतः परोक्षतः।
चमत्कारस्थितिः काव्ये प्राधान्येन निगद्यते।।6।।
कवित्वशक्तिसम्पन्नो नैपुण्याभ्याससंयुतः।
चमत्कारसमाहर्ता चमत्कारस्य साधकः।।7।।
षड्भाषाणां विशेषज्ञो योगी भक्तः स लोष्टकः।
साक्षात्सरस्वतीपुत्रः शिवध्यानपरायणः।।8।।
चमत्कारसमाकीर्णं रसभावादिपेशलम्।
निरमाय्यद्भुतं स्तोत्रं दीनाक्रन्दननामकम्।।9।।
वस्तुशब्दार्थसार्थं तत् काव्यं कुर्वन्महामतिः।
काव्यस्य प्रतिमां काञ्चित् प्रददर्श स्थले स्थले।।10।।

नृपाणाञ्च जनानाञ्च समासु कविगोष्ठिषु ।
अवाप धवलां कीर्तिं सम्मानञ्च महाकविः ।।11।।
अधुनापि प्रसिद्धं तद्भक्तिभावसमन्वितम् ।
कुतूहलसमाविष्टं चमत्कारेण सम्प्लुतम् ।।12।।
छन्दोभि र्ललितै र्बद्धं भाषासौन्दर्यपूरितम् ।
काव्यं तदुत्तमं सर्वैः स्वैरैक्येन प्रशस्यते ।।13।।
वेदज्ञानगभस्तिमुज्ज्वलतमां पश्यन्ति वै वैदिकाः
ज्ञाता निर्मलबुद्धिनैव मुनिभि र्वेदान्तविद्या परा ।
शान्त्यानन्दकरो रसः स सुलभो येनाकृत क्रीडया
सोऽयं भातु महेशभक्तिनिरतः श्रीलोष्टकाख्यः कविः ।।14।।
कविः करोति सत्काव्यं तद् व्याख्याति समीक्षकः ।
काव्यार्थस्तद्गता भावा बुध्यन्ते ते समीक्षया ।।15।।
व्याख्याभावे तु काव्यस्य महत्त्वं केन वेद्यते ।
सदसच्छंशये जाते विद्वन्मतमपेक्ष्यते ।।16।।
दीनाक्रन्दनकाव्यस्य सरलभाषया कृता ।
मर्मप्रकाशिनी टीका केदारनाथेन शास्त्रिणा ।।17।।
ग्लानिनिर्वेदभावाश्च गुणालंकाररीतयः ।
भक्तिभयानकौ शान्त इमे रसाः प्रदर्शिताः ।।18।।
देहलीदीपकन्याये स्थित्वा स कविगुणान् ।
प्रकटयति बुद्धिं स्वां नीरक्षीरविवेकिनीम् ।।19।।
त्यक्त्वोद्वेगकरं जगत्तु यतते मोक्षाय कश्चिज्जनः
कश्चित् कामयते धनञ्च विपुलं राज्यञ्च कोऽपि परः ।
कामांस्तान् परिहाय सैष मनसः केदारनाथः सुधी
र्वाग्देव्याः परिचारकस्तु भवताद् भक्तिं परां प्राप्नुयात् ।।20।।

2/15, त्रिकुटा नगर, जम्मू — वेदकुमारीरामप्रतापी
25-5-2003

प्राक्कथन

संस्कृत वाङ्मय की समृद्धि में कश्मीर का महनीय योगदान है। प्राकृतिक सुषमाओं से मण्डित इस भूमि में पुराण, काव्य, नाटक, दर्शन, व्याकरण, आयुर्वेद, इतिहास, तन्त्र, अलङ्कार शास्त्र इन सभी विधाओं पर अनेक मौलिक रचनायें लिखी गई। दर्शन के क्षेत्र में यहाँ का मौलिक देन काश्मीर शैव दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन तथा त्रिक दर्शन भी कहा जाता है।

अलंकार शास्त्र पर तो कश्मीर का योगदान अत्यंत गौरव पूर्ण है। कश्मीर में लिखे गये अलकार शास्त्र के ग्रन्थ गुण एवं परिमाण दोनों दृष्टियों से महत्त्व पूर्ण हैं। अलंकार शास्त्र के प्रचलित सभी छः सिद्धान्तों के प्रवर्तक यहीं के आचार्य हैं। कश्मीर की भूमि पर लिखे गये महाकाव्यों, ऐतिहासिक काव्यों, मुक्तककाव्यों, स्तोत्रकाव्यों तथा लघुकाव्यों की भी बड़ी संख्या है। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी से लेकर आज तक प्रवाहित होने वाली साहित्य-सरित् में अंशदान करने वाले रचनाकारों में कल्हण, विल्हण, अभिनवगुप्त, मम्मट, वसुगुप्त, उत्पल देव जैसे कई मनीषी तो अपनी-अपनी कालजयी रचनाओं के कारण अत्यंत प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनमें कई ऐसे लेखक भी हैं जो अपेक्षाकृत छोटी तथा अल्पगुणी रचनाओं के कारण अपेक्षाकृत कम विख्यात हैं। संस्कृत साहित्य के प्रति कश्मीर के योगदान के सन्दर्भ में इन अल्प प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं का अंशदान भी अविस्मरणीय है।

बारहवीं शताब्दी ईस्वी के आस-पास के कवि लोष्टक इसी श्रेणी के कवि हैं। लोष्टक के नाम से दो रचनायें उपलब्ध हैं, जिनमें से एक **'दीनाक्रन्दन स्तोत्रम्'** नाम से लघु स्तोत्रकाव्य है। यह कवि की स्वतन्त्र रचना है। दूसरी कृति **"रघुवंश टीका"** है, जो महाकवि कालिदास के रघुवंशमहाकाव्य पर संस्कृत टीका है। प्रस्तुत पुस्तक **"कश्मीरी स्तोत्र-परम्परा एवं दीनाक्रन्दन स्तोत्र"** कश्मीर में लिखित स्तोत्र काव्यों—विशेषतः लोष्टक कृत दीनाक्रन्दन स्तोत्र को संस्कृत जगत् के सामने लाने का प्रयास है। पुस्तक में कश्मीर में लिखे गये स्तोत्र काव्यों का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत कर दीनाक्रन्दन स्तोत्र का दार्शनिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से अध्ययन किया गया है। पुस्तक के तीन भाग हैं। प्रथम भाग को

भी चार अध्यायों में बाँटा गया है। **प्रथम अध्याय** में कश्मीरी कवियों द्वारा लिखे गये बारह स्तोत्रों का समीक्षात्मक विवरण देकर उनमें दीनाक्रन्दन स्तोत्र का स्थान निर्धारित किया गया है। **द्वितीय अध्याय** दीनाक्रन्दनस्तोत्र के रचयिता कवि लोष्टक का वंश, पाण्डित्य एवं साहित्य की जानकारी देता है। धार्मिक एवं कुलीन वंश में उत्पन्न कवि लोष्टक संस्कृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, प्राकृत और देशजा इन छः भाषाओं के ज्ञाता एवं दर्शन, व्याकरण तथा साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। विषय विवेचन नामक **तृतीय अध्याय** में दीनाक्रन्दन स्तोत्र में निहित दार्शनिक विचारसंकेतों का भारतीय दर्शन के प्रकाश में विस्तार से विचार किया गया है। स्तोत्र में संकेतित विचार-बिन्दुओं का अध्ययन इन शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है—अज्ञान, कर्म तथा कर्मफल, मन की चञ्चलता, विषयों का कटुविपाक, संतान-बंधन, सांसारिक सम्बन्धियों की असारता, जन्म का कष्ट, प्राण-त्याग के समय की भयावह दशा, नरक वर्णन, यमराज के अनुचर, भव बन्धन से छूटने का मार्ग आदि। यहीं पर भक्त की शिव के प्रति अभिव्यक्त दीनता, करुणक्रन्दन और उपालम्भ का भी उल्लेख है। प्रथम भाग के ही अन्तिम, **चतुर्थ अध्याय** में दीनाक्रन्दन स्तोत्र का साहित्यिक अध्ययन किया गया है। मूलतः दार्शनिक विचारों से पूर्ण स्तुति काव्य होते हुए भी लोष्टक का यह लघु काव्य साहित्यिक सुषमा की दृष्टि से महनीय है। दीन कवि के आत्म निवेदन में दास्यभक्ति रस की समुचित अभिव्यक्ति हुई है। इस अध्याय के प्रथमार्ध में स्तोत्र के भाव पक्ष की विवेचना है, जहाँ भक्ति रस को परिभाषित विश्लेषित कर दीनाक्रन्दन में भक्तिरस सिद्ध किया गया है। अध्याय का द्वितीयार्ध कलापक्ष से संबद्ध है, जिसमें स्तोत्र की भाषा शैली एवं अलंकार प्रदर्शित किये गये हैं। अलंकारों में कवि ने अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिङ्ग अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति, परिकर एवं भाविक अलंकारों का भावानुकूल वर्णन किया है। इस प्रकार लोष्टक ने दीनाक्रन्दन स्तोत्र के रूप में कविता कामिनी के माध्यम से दार्शनिक विचारों का जिस कौशल से प्रतिपादन दिया है, वह स्तुत्य है। पुस्तक के **द्वितीय भाग** में दीनाक्रन्दन स्तोत्र के मूलपाठ एवं उसका सटिप्पण हिन्दी अनुवाद दिया गया है। अनुवाद की भाषा अत्यंत सरल है। टिप्पणी में रस, भाव, अलंकार एवं पौराणिक आख्यानों का निर्देश किया गया है।

तृतीय भाग में कश्मीर में लिखे गये दस स्तोत्रों का मूल पाठ दिया गया है। इनमें से कई स्तोत्र दुर्लभ हैं, और अन्य स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हैं। कश्मीरी स्तोत्र काव्यों में रुचि रखने वाले सुधी पाठकों को ये सहज उपलब्ध हो सकें इस

उद्देश्य से इन्हें यहाँ एकत्र प्रकाशित कर दिया गया है। इस स्तोत्र संग्रह में स्तुति-कुसुमाञ्जलि, शिवस्तोत्रावली एवं स्तवचिन्तामणि को पुस्तक के आकार वृद्धि के भय से नहीं दिया गया है। आनन्दवर्धनकृत देवीशतक एवं अवतारकवि रचित ईश्वरशतक चित्र काव्य की शैली में लिखे गये स्तोत्र हैं। इनके दुरूह अर्थ को ध्यान में रखते हुए मूलपाठ के साथ संस्कृत टीका भी साथ दी गई है। ये दोनों काव्य काव्यामाला में प्रकाशित हैं।

इस पुस्तक का अधिकांश भाग 1978 ई० में ही लिखकर तैयार हो चुका था, परन्तु कुछ परिस्थिति जन्य बाधाओं एवं कुछ प्रमाद वश पुस्तक के प्रकाशन में बाधा आती गई। लम्बी अवधि के पश्चात् आज पुस्तको विद्वत् समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार सन्तोष का अनुभव हो रहा है।

इस पुस्तक के लेखन सहित मेरे समग्र शैक्षणिक विकास में गुरुद्वय आदरणीय प्रो० वेदकुमारी घई एवं प्रो० राम प्रताप जी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद का बहुत बड़ा हाथ है। ईश्वर मुझे सदा इनके आशीर्वाद का पात्र बनाये रखें। पुस्तक लेखन के समय स्वर्गस्थ पिताजी एवं ममतामयी माता जी का आशीर्वाद, अग्रजों एवं अनुजों के निस्स्वार्थ स्नेह का सम्बल लगातार मिलता रहा, इन सबको मेरा नमन।

मुझे लिखते-पढ़ते देखकर मेरा पुत्र वर्चस् 'पापा वर्चस लिखना' 'पापा वर्चस पढ़ना' कहकर बार-बार बाधित करता, कभी अपने साथ खेलने को हठ करता, जिससे कई बार उसे मुझसे ताड़ना मिलती, डाँट पड़ती, मैं जानते हुए भी उसकी भावना का अनादर करता। मैं उसका अपराधी हूँ। ईश्वर इसे आयुष्मान् बनाये।

हर हाल में मेरे सुख को ध्यान रखने वाली पत्नी उमा को साधुवाद मात्र देकर ऋणमुक्त नहीं हो सकता।

पुस्तक के प्रूफ रीडिंग में सहयोग के लिए बड़े साले श्री सुरेन्द्र पाण्डे को धन्यवाद। पुस्तक सूची निर्माण एवं प्रुफ रीडिङ्ग में प्रिय विद्याधरसिंह का सहयोग प्राप्त हुआ है। उन्हें मेरा आशीर्वाद।

पुस्तक लेखन में जिन रचनाकारो के ग्रन्थों से प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सहायता मिली है, उन सब के प्रति मैं आभारी हूँ।

अन्तः में पुस्तक को इस सुन्दर आकार में प्रकाशित कर 'ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली के श्री शाम लाल मल्होत्रा ने मुझे अनुगृहीत किया है, ईश्वर सदा उन्हें उन्नति-पथ पर ले जायें।

विद्वच्चरणरेणुकांक्षी

जम्मू 30 मई, 2003. डा० केदारनाथ शर्मा

संकेतसूची

अग्नि पु०	अग्निपुराण
अ०	अध्याय
अर्ध-ना०	अर्धनारीश्वर स्तोत्र
क०सं०सा०यो०	कश्मीर का संस्कृत साहित्य को योगदान
का०प्र०	काव्य प्रकाश
काव्याद०	काव्यादर्श
काव्याल०	काव्यालङ्कार,
कुवल०	कुवलयानन्द
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
द०प०	दशम परिच्छेद
दीनाक्रं०	दीनाक्रन्दन स्तोत्र
भग०भक्तिरसा०	भगवद् भक्तिरसायनम्
भक्तिरसा०	भक्तिरसामृतसिन्धु
शिव पु०	शिव पुराण
शु०नी०	शुक्रनीति
सं०सा०इ०	संस्कृत साहित्य का इतिहास
सा०द०	साहित्यदर्पण
स्तुति कु०	स्तुतिकुसुमाञ्जलि

विषय सूची

नान्दीवाक् v-vii
प्रस्तावना ix-x
प्राक्कथन xi-xiii
सङ्केत सूची xiv

प्रथम भाग

प्रथम अध्याय : कश्मीरी स्तोत्र काव्य-परम्परा में दीनाक्रन्दन स्तोत्र का स्थान 3-33
स्रग्धरा स्तोत्र 4
देवीशतक 5
शिवस्तोत्रावली 7
भैरवस्तोत्र 10
क्रमस्तोत्र 12
देहस्थ देवताचक्रस्तोत्र 13
अनुभवनिवेदन स्तोत्र 14
स्तवचिन्तामणि 15
दीनाक्रन्दनस्तोत्र 18
अर्धनारीश्वर स्तोत्र 21
स्तुति कुसुमाञ्जलि 23
ईश्वर शतक 28

द्वितीय अध्याय : कवि लोष्टक–समय, वंश, पाण्डित्य 34-39
साहित्य–रघुवंशटीका, 38
दीनाक्रन्दन स्तोत्र, 38
अन्य रचनायें। 39
तृतीय अध्याय : विषय विवेचन 40-58
(1) सांसारिक दुःखों का चित्रण 40-43
विषयों का कटु विपाक, सन्तान-
बन्धन, जन्म का कष्ट,
प्राण त्याग के समय की
भयावह दशा,
(2) नरक का वर्णन–नरक का कष्ट, यमराज के अनुचर 44-45
(3) अज्ञान 45
(4) कर्म तथा कर्मफल 47
(5) मन की चञ्चलता 48
(6) भव-बन्धन से छूटने का मार्ग 49
(7) कवि का इष्ट देव शिव 51
(8) कवि द्वारा शिव के लिए प्रयुक्त अन्यान्य सम्बोधन तथा विशेषण 52
(9) शिव के विशेषण 53
(10) कवि की दीनता, करुण क्रन्दन और शिव को उपालम्भ 53-56
(11) कवि द्वारा अपने लिए प्रयुक्त विशेषण 57
चतुर्थ अध्याय : भाव एवं कला पक्ष 59-73
(क) भाव पक्ष 59
भक्ति रस तथा दीनाक्रन्दन
स्तोत्र में इसका स्थान 59
भक्ति रस के भेद, मुख्य भेद, 60-61
गौण भेद

(ख) कलापक्ष 63

भाषाशैली 63

शब्दचयन 64

अलंकारों का समावेश 65

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक,

काव्यलिङ्ग, अनुप्रास,

अर्थान्तरन्यास, स्वाभावोक्ति,

परिकर, भाविक,

छन्दो-रचना 72

वसन्ततिलका

शार्दूलविक्रीडितम्

शिखरिणी

मन्दाक्रान्ता

स्रग्धरा

द्वितीय भाग

दीनाक्रन्दन स्तोत्र का मूलपाठ एवं उसका सटिप्पण अनुवाद 77-108

तृतीय भाग

काश्मीरक स्तोत्रकाव्यानि 109-217

1. स्रग्धरा स्तोत्रम्। 111-120
2. देवी शतकम् (कय्यटकृतटीका सहितम्)। 121-153
3. भैरव स्तोत्रम्। 154-155
4. क्रमस्तोत्रम् 156-160
5. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्। 161-162
6. अनुभवनिवेदनस्तोत्रम्। 163
7. अनुत्तराष्टिका। 164-165

8. परमार्थ द्वादशिका। 166-168
9. दीनाक्रन्दनस्तोत्रम्। 169-179
10. अर्धनारीश्वर-स्तोत्रम्। 180-182
11. ईश्वर शतकम् (सटीकम्)। 183-217
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 218-221

प्रथम भाग

1. कश्मीरी स्तोत्रकाव्य परम्परा में दीना क्रन्दन स्तोत्र का स्थान
2. कवि लोष्टक
3. विषय विवेचन—दार्शनिक अध्ययन
4. साहित्यिक अध्ययन

[illegible]

---

1. [illegible]
2. [illegible]
3. [illegible]
4. [illegible]

कश्मीरी स्तोत्रकाव्य परम्परा में दीनाक्रन्दन का स्थान

कश्मीर प्रदेश यद्यपि काव्यशास्त्र एवं अद्वैत शैवदर्शन के लिए विशेष रूप से जाना जाता है, परन्तु भक्ति रस से पूर्ण स्तोत्र काव्यों की रचना में भी यहाँ के लेखक अग्रणी हैं।

स्तोत्र काव्यों में भक्त कवि अपने हृदय के उद्गारों को स्तुति के माध्यम से अपने इष्ट देव के समक्ष प्रकट करता है। स्तुति का अर्थ है—श्लाघा अर्थात् स्तुत्य के गुणों का वर्णन। सकाम या निष्काम भाव से, अपने इष्ट देव, उपास्य देव की आराधना करने वाले भक्त कवियों को अपनी अभीष्ट सिद्धि में स्तुति का एक बड़ा आधार मिल जाता है। इष्ट देव को अपने अनुकूल बनाने के लिए यज्ञ, दान, तप, व्रत, योग आदि शास्त्र सम्मत अन्य साधनों में से स्तुति सर्व सुलभ, सर्वोत्कृष्ट एवं अत्यावश्यक साधन है। स्तुति के बिना यज्ञ, दान, व्रत, तप आदि साधनों की पूर्णता ही नहीं हो सकती, बल्कि यज्ञ, दान, व्रत, तप आदि प्रत्येक विधि की परिपूर्णता स्तुति के बिना होती ही नहीं। कितना ही बड़ा धर्मानुष्ठान, यज्ञादि कर्म क्यों न किया जाय, उसमें थोड़ी बहुत स्तुति का सम्मिश्रण होता ही है।

मनुष्यों से लेकर देवताओं तक सभी को स्तुति अति प्रिय लगती है, जैसा कि शुक्राचार्य का कथन है—स्तुति से देवता भी वश में आ जाते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है—स्तुत्या वशं यान्ति देवा ह्यसा किं पुनर्नराः।[1] क्रूर एवं निर्दयी व्यक्ति भी अपनी स्तुति सुनकर थोड़ा द्रवित अवश्य होता है, स्तुति से सभी वश में आ जाते हैं।

स्तोत्र काव्यों में भक्त कवि अपने आराध्य देव को अनुकूल बनाने के लिए स्तुति का आश्रय लेता है। ये काव्य मानवीय कोमल भावनाओं की सशक्त अभिव्यक्ति की दृष्टि से महनीय स्थान रखते हैं। स्तोत्र काव्य में भक्त कवि अपने

---

1. शुक्रनीति, अध्याय 4

अभीष्ट देव की उदारता, महिमा का स्तुति गान करते हुए अपनी दीनता, तुच्छता, दुःख, दर्द आदि को प्रकट करता है। स्तुति काव्यों का कवि कभी भगवान् के दिव्य स्वरूप के दर्शन से अचम्भित हो उठता है, कभी उसकी असीम् अनुकम्पा, अलौकिक सामर्थ्य, दीनजनों के प्रति स्नेह आदि को देखकर उसकी महिमा का गान करते हुए मुग्ध हो जाता है, कभी अपना असामर्थ्य, अवगुण, हीनता आदि का स्मरण कर व्यथित हो उठता है। इन काव्यों में सर्व सामर्थ्य सम्पन्न अपने इष्ट देव के समक्ष भक्त कवियों की दीनता की अभिव्यक्ति जिन कोमल शब्दों में हुई है, वह बड़ी मार्मिक, रसपेशल एवं रोचक है।

कश्मीर में लिखे गये स्तोत्र काव्यों में सर्वज्ञमित्र का **स्रग्धरा स्तोत्र**, आनन्दवर्धन का **देवीशतक**, उत्पल देव की **शिव स्तोत्रावली**, अभिनवगुप्त का **भैरव स्तोत्र** एवं **क्रम स्तोत्र**, भट्ट नारायण की **स्तवचिन्तामणि**, लोष्टक का **दीनाक्रन्दन स्तोत्र**, कल्हण का **अर्धनारीश्वर स्तोत्र**, जगद्धरभट्ट कृत **स्तुतिकुसमाञ्जलि** एवं अवतार कवि रचित **ईश्वर शतक** उल्लेखनीय हैं। यहाँ इन स्तोत्र काव्यों का संक्षिप्त परिचय देकर उनमें **दीनाक्रन्दन स्तोत्र** का स्थान निर्धारित करने का प्रयास किया जायेगा।

स्रग्धरा स्तोत्र

स्रग्धरा-स्तोत्र या आर्यतारा-स्रग्धरा स्तोत्र[1] आठवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध[2] के बौद्ध कवि सर्वज्ञमित्र की रचना है। बौद्ध देवी तारा की स्तुति में लिखे गये इस लघु स्तोत्र में स्रग्धरा छन्दो बद्ध 37 रोचक पद्य हैं। बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय में तारा देवी अवलोकितेश्वर बुद्ध की प्रतिमूर्ति मानी गई हैं। वह स्रग्धरा नाम से भी विख्यात हैं। तारा देवी महायान सम्प्रदाय में मातृदेवी तथा त्राणकारिणी देवी के रूप में अत्यन्त लोक-प्रिय हो गई थीं।

इस स्तोत्र की रचना के विषय में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि सर्वज्ञमित्र कश्मीर के महाराजा का जमाता था और बौद्धधर्म का आश्रय ग्रहण करने से पूर्व धनवान् था परन्तु उसने अपना समग्र-धन दान दे दिया और निर्धन हो गया। एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या के विवाहार्थ उससे धन की याचना की। तदर्थ धन संग्रह के लिए उसने अपने आप को एक ऐसे राजा के हाथों बेच डाला जो नरमेध यज्ञ

1. आ० नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० 176
2. डॉ० वेद कुमारी : कश्मीर का संस्कृत साहित्य को योगदान, पृ० 148; विण्टरनित्ज़ ने इनका समय 800-850 ई० माना है। देखिए Winter Nitz's History of Indian Literature, p. 320
3. M. Winternitz's History of Indian Literature, (Bhaskar Jha's Tr.) Vol: II, Part I, pp. 320-21

में सौ मनुष्यों की बलि देना चाहता था। परन्तु वध करने के लिए लाये गये अन्य मनुष्यों के दुःखों से द्रवित होकर उसने प्रस्तुत स्तोत्र की रचना की और तारा देवी की कृपा से अपने और सब मनुष्यों के प्राणों को बचा लिया। आर्य तारा के प्रति हठपूर्ण कवि की स्तुति का एक नमूना देखें :

पापी यद्यस्मि कस्मात् त्वयि मम महती वर्द्धते भक्तिरेषा
श्रुत्या स्मृत्या च नाम्नाप्यपहरसि हठात् पापमेका त्वमेव।
त्यक्तव्यापारभारा तदसि मयि कथं कथ्यतां तथ्यकथ्ये
पथ्यं ग्लाने मरिष्यत्यपि विपुलकृपः किं भिषग् रोरुधीति।। -स्रग्धरा स्तोत्र, 8

यह स्तोत्र महायान सम्प्रदाय की उस प्रवृत्ति का परिचायक है, जब बौद्ध धर्मानुयायी पुराणों से प्रभावित होकर अवतारवाद को मान्यता देने लगे। वस्तुतः महायान सूत्र और पुराणों में बड़ा साम्य है।[1]

यह स्तोत्र 'बुद्ध स्तोत्र संग्रह' के प्रथम भाग में प्रकाशित है,[2] और सुन्दर काव्य शैली का नमूना है।

देवीशतक

ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन (850 ई० के लगभग) के द्वारा भगवती दुर्गा की स्तुति में लिखे गये इस स्तोत्र में कुल 104 पद्य हैं। यह स्तोत्र काव्य माला नवम गुच्छक में प्रकाशित है।[3] स्तोत्र के अन्तिम पद्य से ज्ञात होता है कि कवि ने आनन्द कथा तथा त्रिदशानन्द नामक दो अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी। स्तोत्र के 101 वें पद्य के अनुसार देवी ने स्वप्न में प्रकट के होकर कवि को यह स्तोत्र रचने की आज्ञा दी थी,[4] और उनके पिता का नाम 'नोण' था। आनन्दवर्धन के इस काव्य में हृदयपक्ष कलापक्ष के आडम्बर से दब-सा गया है। यह पूरा शतक चित्रकाव्य की शैली में रचा गया है। जिससे काव्य बड़ा नीरस एवं दुरूह बना गया है। उदाहरण के लिए एक पद्य प्रस्तुत है—

सर स्वति प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति।
सरस्वति कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्रसरस्वति।।[5]

श्लोक का भाव यह है—हे सरस्वति, आप अतिशय (=स्वति) प्रसाद को

1. आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० 176
2- Buddhastotrasamgraha, Vol. I, ed. by S.Ch. Vidyabhushana, Calcutta, 1908.
3. काव्यमाला, नवम गुच्छक, पृ० 1-31 (प्रकाशक: चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 1987)।
4. देव्या स्वप्नोद्गमादिष्टदेवीशतकसंज्ञया।
देशितानुपमामाधादतो नोणसुतो नुतिम्।। —देवीशतक, पद्य 101
5. वही, पद्य-50

धारण कीजिए और मेरा चित्तरूपी समुद्र (सरस्वान्) में स्थिति कीजिए। आप शरीर (=क्षेत्र) रूपी कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी के समान सदा निवास करने वाली हैं।

यहाँ "सरस्वती" पद के चार भिन्न-भिन्न प्रयोगों से यमकालङ्कार की सृष्टि हो रही है। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य की इस कृति में शब्दालङ्कार के प्रदर्शन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि देवीशतक की रचना इन्होंने ध्वन्यालोक से काफी पहले की होगी। देवीशतक भक्तिभाव की अभिव्यञ्जना की दृष्टि से तो नहीं पर यमक, श्लेष एवं चित्रालंकारों के नियोजन के दृष्टि से पाठकों को चमत्कृत अवश्य करता है। केवल दो व्यञ्जनों सकार एवं तकार के प्रयोग से निम्न पद्य की रचना में कवि का शब्दचातुर्य के प्रति रुचि प्रकट होती है—

सिता संसत्सु सत्तास्ते स्तुतेस्ते सततं सतः।
ततास्ति तैति तस्तेति सूतिः सूति स्ततोऽसि सः।।[1]

हे देवी! आपकी स्तुति के कारण सज्जन व्यक्ति की सभाओं में निरन्तर प्रशंसा एवं विद्यमानता होती है, जिसमें व्याधियों का नाश होता है।

शतक के 25वें पद्य में सर्वतोभद्रचित्रालङ्कार का प्रयोग भी दर्शनीय है, जिसमें वर्णों की योजना इस प्रकार से की गई है कि किसी श्लोक के एक-एक पादों को किसी भी ओर से पढ़ने पर समान पद प्राप्त होते हैं।[2]

विरोधाभास के निम्न पद्य में भी कवि का अलङ्कार प्रेम देखा जा सकता है—

दुर्गापि मातः सुलभासि भक्त्या भावानुकूलापि भवं क्षिणोषि।
अध्येयतां यासि सदैव देवि ध्येयासि चित्रं चरितं तवैतत्।।[3]

प्रभातसन्ध्या के साथ देवी की यह उपमा भी सुन्दर है—

वन्द्या प्रभातसन्ध्येव सूर्यालोकप्रवर्तिनी।
निवर्तयसि देवि त्वं महामोहमयीं निशाम्।।[4]

हे देवी! आप उस प्रभात सन्ध्या के समान वन्दनीया ही, जो सूर्य के प्रकाश

---

1. देवीशतक, पद्य 93
2. जितानया या नताजितारसाततसारता।
न सावना नावसानयातनारिरिना तया।।वही पद्य 25
3. देवी शतक, पद्य 75
4. वही, पद्य 77

को लाती है और महामोहमयी रात्रि को दूर करती है। तुम भी भक्तों को ज्ञान का प्रकाश देती हो और उनके अज्ञानान्धकार को मिटाती हो।

कुल मिलाकर आनन्दवर्धन के इस काव्य में भाव पक्ष शब्दालङ्कार के भार से बाधित हो गया है। कई पद्य इतने दुर्बोध हो गये हैं कि उनका अर्थ समझना पण्डितों के लिए भी बड़ा दुष्कर है। काव्य की दुर्बोधता को ध्यान में रखकर ही कश्मीरी आचार्य कय्यट ने इस पर एक विशद टीका लिखी है। देवीशतक के टीकाकार कय्यट महाभाष्य की प्रदीप टीका के लेखक वैयाकरण कैयट से नितान्त भिन्न हैं। ये शिशुपालबन्ध आदि काव्यों के विश्रुत टीकाकार वल्लभी के पौत्र तथा चन्द्रादित्य के पुत्र थे।[1] टीका का समय 4078 कलिसंवत् (=978 ई०) दिया गया है।[2]

"काव्य स्यात्मा ध्वनिः"[3] लिखकर ध्वनि या व्यङ्गार्थ को काव्य की आत्मा मानने वाले आलोचक के द्वारा अत्यंत अलंकृत शैली का यह काव्य लिखा जाना अपने आप में महान् आश्चर्य है।

शिव स्तोत्रावली

कश्मीर प्रत्यभिज्ञादर्शन, जिसे शैवदर्शन तथा त्रिकदर्शन भी कहा जाता है, का उद्भव स्थल है। यहाँ के शैवाचार्यों ने प्रत्यभिज्ञादर्शन का ही निर्माण नहीं किया अपितु भक्ति रस पूर्ण स्तुति काव्यों की रचनाकर भगवान् शंकर के प्रति अपार भक्तिभावना का परिचय भी दिया है। भगवान् शंकर के उपासक यहाँ के अनेक भक्त कवियों ने शिव की स्तुति मं कई उत्कृष्ट काव्यों की रचना की है, इन शिवभक्त कवियों में उत्पलदेव प्रमुख हैं। इनकी रचना शिव स्तोत्रावली को कश्मीर के शैवस्तोत्र साहित्य का प्रथम स्तोत्र काव्य होने का गौरव प्राप्त है। उत्पलदेव आचार्य सोमदेव के शिष्य थे और इनका समय नवम शताब्दी ई० का उत्तरार्ध है।[4] शिवस्तोत्रावली के अतिरिक्त इनकी (1) ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, (2) ईश्वर प्रत्यभिज्ञा वृत्ति (3) ईश्वर प्रत्यभिज्ञा टीका (4) सम्बन्ध सिद्धि, (5) अजड प्रमातृ सिद्धि, (6) ईश्वर सिद्धि, (7) शिव दृष्टि वृत्ति आदि रचनायें प्रसिद्ध हैं।[5] ये सभी ग्रन्थ शैवदर्शनपरक हैं। शिव स्तोत्रावली भगवान् शंकर की स्तुति में लिखे गये 20 स्तोत्रों का संग्रह है, जिसमें कुल 450 भक्तिपूरित पद्य हैं। इन स्तोत्रों में कवि ने

1. द्रष्टव्य, सं०सा०इ० (बलदेव), पृ० 370
2. वही, पृ० 371
3. ध्वन्यालोक 1.1.
4. सं०सा०इ० (आचार्य बलदेव), पृ० 364
5. शिव स्तोत्रावली की भूमिका, पृ० 4

भगवान् शंकर के अनन्त गुणों का मनोरम वर्णन किया है। अद्वैत शैव दर्शन के मूल सिद्धातों को आधार बनाकर लिखे गये इस काव्य में समावेशमयी भक्ति और उस की सफलता से प्राप्त होने वाले परमानन्द का सुन्दर चित्रण हुआ है। भाव सौन्दर्य की दृष्टि से यह काव्य बड़े उच्च कोटि का है। भक्त कवि को अपने उपास्य देव शंकर से सम्पर्क रखने वाली हर वस्तु से प्रेम है, परन्तु यदि कोई उत्तम से उत्तम भी वस्तु भगवान् शंकर के सम्पर्क से रहित है तो उसे प्रिय नहीं है—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद् वपुर्भेदवृत्ति यदि न मे रोचते।।[1]

हे प्रभो! आपके कण्ठ के कोने में विद्यमान कालकूट विष भी (आप से अभिन्न होने के कारण) मेरे लिए महान् अमृत के समान है, परन्तु यदि आपके शरीर से पृथक् होकर रहने वाला अनायास प्राप्त हुआ अमृत भी हो तो मेरे लिए रुचिकर नहीं है। भावुक भक्त कवि की कोमल भावनाओं की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है।

भक्त कवि सदा शिव की पूजा में ही मग्न रहना चाहता है, क्योंकि उसके सुख एवं दुःख शिव के सान्निध्य एवं वियोग के साथ जुड़े हुये हैं।

संग्रहेण सुखदुःखलक्षणं मां प्रति स्थितमिदं शृणु प्रभो।
सौख्यमेष भवता समागमः स्वामिना विरह एव दुःखिता।।[2]

कवि के विचारों में जगत् का आश्रय एवं स्वामी भगवान् शिव ही हैं। अतः वही एक सब का शरण्य हैं।[3]

वह इन्द्रिय रूपी मुख से सभी भाव रूपी प्यालों में शिवार्चन के रसायन रूपी मदिरा को भरकर पीते हुए निरन्तर मस्त रहना चाहता है।[4]

दुःखों से व्याकुल कवि की यह प्रार्थना कितनी मार्मिक है—

"जीवन यात्रा का मार्ग बहुत लम्बा है अर्थात् जन्म-मरण के चक्र का अन्त नहीं, शरीर अनेक विध रोगों से दग्ध है, (पारमार्थिक चिदानन्दमय) भोगों का आस्वादन तो मैंने किया नहीं और मुझे जो कुछ भी अल्प सुख का अनुभव हुआ

1. शिवस्तोत्रावली, स्तोत्र 13, पद्य 17
2. वही, 13.1
3. जय देव नमो नमोऽस्तुते सकलं विश्वमिदं तवाश्रितम्।
   जगतां परमेश्वरो भवान् परमेकः शरणागतोऽस्मि ते।। —वही, 2.29
4. तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्।
   सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः।। —वही, 13.8

वह भी क्षणिक निकला, अतः मेरा जीवन व्यर्थ है। आपके चरणों में पड़ा मेरा यह सिर अवश्य सुन्दर हो गया है। मैं आपका भक्त हूँ, मुझे निरन्तर रहने वाली अद्वयानन्दरूपिणी सम्पत्ति प्रदान कीजिए।"[1]

भक्त कवि की कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति में काव्य सौन्दर्य के दर्शन भी होते हैं। निदर्शनार्थ, अर्थान्तरन्यास अलंकार की शैली में की गई कवि की यह स्तुति कितनी रोचक बन पड़ी है—

हे शिव! मेरी अति तुच्छ करुण पुकारें आपके कानों के पास पहुँचकर उसी प्रकार बहुमूल्य हो जाती हैं, जिस प्रकार (स्वाति नक्षत्र में) छोटी-छोटी जल की बूँदे बाँस के अन्तराल में पड़कर वंशलोचन मणियाँ बन जाती हैं।[2]

कवि के विचार में शिव के प्रति समावेशमयी भक्ति ही श्रेष्ठ सुख है।[3]

इस प्रकार शिवस्तोत्रावली में संग्रहीत सभी स्तोत्रों में कवि ने सरल एवं मधुर शैली में भगवान् शिव के उच्च गुणों का वर्णन और कमनीय रूपों का चित्रण किया है। सभी स्तोत्रों के भाव बड़े उच्च कोटि के हैं।

शिव स्तोत्रावली के टीकाकार आचार्य क्षेमराज के अनुसार उत्पलदेव ने इन स्तुत्यात्मक पद्यों की रचना मुक्तक के रूप में की थी। बाद में उनके शिष्यों श्रीराम तथा श्री आदित्यराज ने उन्हें विषयानुसार स्तोत्रों में व्यवस्थित कर उन्हें पृथक्-पृथक् नाम भी दे दिए।"[4] चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क 15 में 1964 में प्रकाशित शिव स्तोत्रावली के 20 स्तोत्रों के नाम एवं उनके पद्यों की संख्या इस प्रकार है—

(1) भक्ति-विलास—26 पद्य,

(2) सर्वात्मपरिभावन—29 पद्य,

(3) प्रणयप्रसाद—21 पद्य,

---

1. संसाराध्वा सुदूरः खरतरविविधव्याधिदग्धाङ्गयष्टिः।
भोगा नैवोपभुक्ता यदपि सुखमभूज्जातु तन्नो चिराय।
इत्थं व्यर्थोऽस्मि जातः शशिधर-चरणाक्रान्ति कान्तोत्तमाङ्गः
स्त्वद्भक्तश्चेति तन्मे कुरु सपदि महासम्पदो दीर्घदीर्घाः।। —वही, 15.19

2. त्वत्कर्णदेशमधिशय्य महार्घभावमाक्रन्दितानि मम तुच्छतराणि यान्ति।
वंशान्तरालपतितानि जलैकदेशखण्डानि मौक्तिकमणित्वमिवोद्वहन्ति।।
—शिवस्तोत्रावली, 11.9

3. किमियं न सिद्धिरतुला किं वा मुख्यं न सौख्यमाश्रवति।।
भक्तिरुपचीयमाना येयं शम्भोः सदातनी भवति।। —वही, 15.13

4. कश्मीर का संस्कृत साहित्य को योगदान, पृ० 144

(4) सुरसोद्‌बल—25 पद्य,

(5) स्वबलनिदेशन—26 पद्य,

(6) अध्वविस्फुरण—11 पद्य,

(7) विधुरविजय—9 पद्य,

(8) अलौकिकोद्‌बलन—13 पद्य,

(9) स्वातन्त्र्य विजय—20 पद्य,

(10) अविच्छेदभङ्ग—26 पद्य,

(11) औत्सुक्य विश्वासित—15 पद्य,

(12) रहस्य निदेश—29 पद्य,

(13) संग्रहस्तोत्र—20 पद्य,

(14) जयस्तोत्र—24 पद्य,

(15) भक्तिस्तोत्र—19 पद्य,

(16) पाशानुद्‌भेद—30 पद्य,

(17) दिव्यक्रीडाबहुमान—48 पद्य,

(18) आविष्कार—21 पद्य,

(19) उद्योतन—17 पद्य,

(20) चर्वणा—21 पद्य,

सामान्यतः इन सभी स्तोत्रों में भगवान् शंकर की स्तुति ही मुख्य है, परन्तु वर्णन शैली की भिन्नता के कारण प्रत्येक स्तोत्र एक दूसरे से नवीन लगते हैं। स्तोत्रों की भाषा सरल एवं मनोरम है।[1] शिव स्तोत्रवली पर, आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने विवृति (संस्कृत टीका) लिखी है, जिसका पूरा नाम 'शिवस्तोत्रावली विवृति' है।

4. भैरव स्तोत्र

दशमी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में हुए परम मनीषी अभिनवगुप्त[2] का भैरव

1. द्रष्टव्य शिवास्तोत्रावली 1.7, 8, 9; 15, 19; 2.3, 4, 9; 5.4, 9, 18; 15.3 आदि।
2. द्रष्टव्य : पोद्दारः सं०सा०इति०, खण्ड 1, पृ० 152; डॉ० नागेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० 69

स्तोत्र (ईश्वर स्तोत्र) भी स्तोत्र काव्यों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस स्तोत्र का रचना काल 991 ई० है। सरल सरस पदों के द्वारा प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर लिखा गया यह नौ पद्यों का अत्यन्त लघु स्तोत्र काव्य है।[2] शिव के प्रति अनन्य भक्ति भाव रखने वाले कवि के साहस का एक नमूना देखिए, जिसमें वह क्रोध से विकराल नेत्रों वाले मृत्यु के देवता अन्तक (यमराज) को भी ललकार रहा है:

अन्तक मां प्रति मा दृशमेनां क्रोधकरालतमां विनिधेहि।
शंकर-चिन्तन-सेवनधीरो भीषण-भैरवशक्तिमयोऽस्मि।।[3]

हे अन्तक (यमराज)! मुझ पर क्रोध से अत्यंत विकराल दीखने वाली अपनी इस सृष्टि को मत डालो, क्योंकि शंकर के चिन्तन-सेवन से धीर हुआ मैं भीषण-भैरव शक्तिसम्पन्न हो गया हूँ। अर्थात् हे यमदेव! तुम चाहे कितनी ही क्रोध भरी दृष्टि क्यों न डालो, शिवभक्ति के कारण शक्तिमय बने मुझ पर उसका कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है।

जिन्हें सर्वकल्याणकारी शंकर की शक्ति का सम्बल मिल गया हो वे भला मरने से क्यों डरने लगें?

---

1. ब्यूलर : कश्मीर रिपोर्ट, पृ० 159, अभिनवगुप्त ने अपने 'विवृति विमर्शिनी', 'क्रमस्तोत्र', तथा 'भैरवस्तोत्र' इन तीन ग्रन्थों का रचना काल कश्मीर के प्रसिद्ध सप्तर्षि संवत्सर और उसके साथ कलि संवत्सर का सम्बन्ध दिखलाते हुए दिया है। उसके अनुसार 'क्रम स्तोत्र' की रचना 990 ई० में, 'भैरवस्तोत्र' की रचना 992 ई० में और 'विवृतिविमर्शिनी' की रचना 1014 ई० में की गई है। 'विवृतिविमर्शिनी' में उसके रचनाकाल का निर्देश इस प्रकार दिया है—

   'इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे
   तिथि शशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
   जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां
   व्यवृणुत परिपूर्णं प्रेरितः शम्भुपादैः।।

   कलि संवत्सर और सप्तर्षिसंवत्सर को ई० संवत्सर में बदलने पर यह सिद्ध होता है कि 'विवृति विमर्शिनी की रचना 1014 ई० में हुई।' —काव्य प्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी टीका भूमिका, पृ० 51 पर उद्धृत।
2. डॉ० के०सी० पाण्डे की पुस्तक 'Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study' के परिशिष्ट III में प्रकाशित भैरवस्तव की पुष्पिका इस प्रकार है :—"समाप्तं स्तवमिदं अभिनवाख्यं पद्यनवकम्।"
3. भैरवस्तोत्र, पद्य-4

शिव अपनी अनुग्रह शक्ति से विश्वमय रूप में भासित होता है, जो शिवमय हो गया उसके लिए सारा विश्व उसका अपना ही रूप भासित होता है—

त्वन्मयमेतदशेषमिदानीं भाति मम त्वदनुग्रहशक्त्या।
त्वं च महेश सदैव ममात्मा स्वात्ममयं मम तेन समस्तम्।।[1]

डॉ०के०सी० पाण्डे की पुस्तक के परिशिष्ट में भैरवस्तोत्र प्रकाशित है।[2]

5. क्रम स्तोत्र

अभिनवगुप्तद्वारा क्रम सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्तों के आधार पर रचित इस लघु स्तोत्र में 30 पद्य हैं। इस स्तोत्र में अनाख्य चक्र में पूजनीय द्वादश देवियों का वर्णन है। अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती किसी अज्ञात लेखक के द्वारा लिखित 'क्रम स्तोत्र' से यह अत्यधिक प्रभावित हैं। स्तोत्र के प्रायः सभी पद्य शिखरिणी छन्द में निबद्ध हैं। इस स्तोत्र की भाषा तो बड़ी सरल है पर भाव बड़े गूढ़ हैं। इसका अर्थ बोध तो क्रम सम्प्रदाय के पारम्परिक उपासकों के लिए ही सहज है, सम्भवतः यही कारण है कि अभिनवं गुप्त के भैरवस्तोत्र की तुलना में यह स्तोत्र कम प्रसिद्ध है।

इस स्तोत्र का एक पद्य यहाँ उद्धृत है :—

जगत्संहारेण प्रशमयितुकामः स्वरभसात्
स्वशंकातङ्काख्यं विधिमथ निषेधं प्रथयसि।
इमं सृष्ट्वेत्थं त्वं पुनरपि च शङ्कां विदलयन्
महादेवी सेयं मम भवभयं संदलयताम्।।[3]

क्रमस्तोत्र की पुष्पिका इस प्रकार है :—

"इति श्री अभिनवगुप्त पादाचार्यकृतं क्रमस्तोत्रं समाप्तम्।[4]

अभिनवगुप्ताचार्य ने भैरव स्तोत्र एवं क्रमस्तोत्र के अतिरिक्त जो स्तोत्रकाव्य लिखे थे, उनमें मुख्य ये है :—

---

1. भैरवस्तोत्र, पद्य-2
2. द्रष्टव्य—K.C. Pandey; Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study, pp. 951-2.
3. क्रमस्तोत्र, पद्य-18
4. द्रष्टव्य, K.C. Pandey : Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study Appendix-C, pp. 948-51.

अनुभवनिवेदनस्तोत्र, अनुत्तराष्टिका स्तोत्र
और देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र।[1]

इस स्तोत्र को प्रस्तुत पुस्तक के परिशिष्ट में उद्धृत किया गया है।

अनुत्तराष्टिका एवं परमार्थद्वादशिका अभिनव गुप्त के दो अन्य स्तोत्र हैं।[2]

देहस्थ-देवता चक्र स्तोत्र

अभिनव गुप्त द्वारा लिखित इस स्तोत्र में कुल 15 श्लोक हैं। यह स्तोत्र क्रम सम्प्रदाय अथवा दर्शन से सम्बद्ध है। इस साधना पद्धति के अनुसार साधक का शरीर देव पीठ की भाँति पूजा योग्य है और शरीर के विभिन्न अंगों में विभिन्न देवताओं का वास समझना चाहिए, जैसे—गणपति और वटुक।[3] देहस्थ देवता चक्र स्तोत्र में अभिनवगुप्त ने इन देवताओं को प्रणाम किया है। इस मत के अनुसार प्राण को गणपति के रूप में,[4] अपान को वटुक के रूप में,[5] चित् को आनन्द भैरव के रूप में,[6] विमर्श को आनन्दभैरवी के रूप में,[7] बुद्धि को ब्रह्माणी के रूप में,[8] अहंकृति को शाम्भवी के रूप में,[9] मनस् को कुमारी के रूप में,[10] शब्द को वैष्णवी के रूप में,[11] त्वक् को वाराही के रूप में,[12] दृक् (नेत्र) को इन्द्राणी के रूप में,[13]

---

1. द्रष्टव्य, बलजिन्नाथ पण्डित: 'काश्मीर शैव दर्शन', पृ० 30; K.C. Pandey : Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study, Appendix-C, pp. 948-51, 991-92, 953.
2. द्रष्टव्य : के०सी० पाण्डेय की उपर्युक्त पुस्तक, पृ० 943-945.
3. द्रष्टव्य : के०सी० पाण्डेय : Abhinay Gupta An Historical and Philosophical Study, पृ० 485.
4. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, श्लोक-1
5. वही, श्लोक-2
6. वही, श्लोक-3
7. वही, श्लोक-5
8. वही, श्लोक-6
9. वही, श्लोक-7
10. वही, श्लोक-8
11. वही, श्लोक-9
12. वही, श्लोक-10
13. वही, श्लोक-11

जिह्वा को चामुण्डा के रूप में[1] और प्राण को महालक्ष्मी[2] के रूप में माना गया है। देहस्थ देवता चक्र स्तोत्र के प्रथम तेरह श्लोकों में गणपति आदि तेरह देवताओं को अभिनवगुप्त ने प्रणाम किया है। स्तोत्र के चौदहवें पद्य में षट्त्रिंशत् तत्त्वों से संवलित षड्दर्शनों में पूज्य, सिद्धिदायक आत्मभिधान क्षेत्रपति को प्रणाम किया गया है।[3] अन्तिम पन्द्रहवें पद्य में देहस्थ देवता चक्र से प्रति नमस्कार अर्पित किया गया है। स्तोत्र के चतुर्थ पद्य में सद्गुरु का अभिवादन किया गया है–

> **यद्धीबलेन विश्वं भक्तानां शिवपथं भाति।**
> **तमहमवधानरूपं सद्गुरुममलं वन्दे।।**[4]

इस प्रकार क्रम सम्प्रदाय के अनुसार साधक को शरीर के विविध अंगों का विविध देवताओं के साथ एकात्म्य का अनुभव होता है। देहस्थ देवता चक्र में क्रम सम्प्रदाय के इसी विचार का प्रतिपादन हुआ है।

इस स्तोत्र के अन्त में पुष्पिका यह दी गई है–

> **"इति देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्"।**

इस स्तोत्र को डॉ० के०सी० पाण्डेय ने अपनी पुस्तक Abhinav Guptata: An Historical and Philosophical Study के परिशिष्ट 'C' में उद्धृत किया है।

7. अनुभव निवेदन स्तोत्र

यह अभिनव गुप्त का चार पद्यों का अत्यंत लघुकाय स्तोत्र है। यह स्तोत्र योगी अभिनवगुप्त के अनुभवपरक सुन्दर विचारों से परिपूर्ण है। शार्दूल विक्रीडित छन्द में निबद्ध स्तोत्र के चारों पद्य तो बड़े सरल हैं, पर भाव अत्यन्त गम्भीर हैं। इस स्तोत्र से जान पड़ता है कि अभिनवगुप्त को गुरु कृपा से शाक्त धाम का सदेह अनुभव हो गया था। तभी तो वे इस में होने वाले अनुभव का उल्लेख कर रहे हैं–

> **शब्दः कश्चन यो मुखादुदयते मन्त्रः स लोकोत्तरः**
> **संस्थानं सुखदुःखजन्मवपुषो यत्का मुद्रैव सा।**

---

1. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, श्लोक-12
2. वही, श्लोक-13
3. षड्दर्शनेषु पूज्यं षट्त्रिंशत् तत्त्व संवलितम्।
   आत्माभिख्यं सततं क्षेत्रपतिं सिद्धिदं वन्दे।। –दे०दे०च०स्तो०, श्लोक 14
4. वही, श्लोक-4

प्राणस्य स्वरसेन यत्प्रवहणं योगः स एवाद्भुतः

शाक्तं धाम परं ममानुभवतः किन्नाम न भ्राजते।।[1]

इस पुस्तक के परिशिष्ट में संम्पूर्ण स्तोत्र मुद्रित है।

8. स्तवचिन्तामणि

दशमी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध[2] के कवि भट्टनारायण द्वारा रचित 'स्तवचिन्तामणि' भक्ति से ओत प्रोत स्तोत्र काव्य है। इसमें शिव स्तुति परक 120 पद्य हैं। शिव स्तोत्रावली की भाँति स्तवचिन्तामणि भी कश्मीर शैवदर्शन के मूलसिद्धान्तों के आधार पर रचित है। इसमें स्तुति के परिवेश में कश्मीर शैवदर्शन के परम तत्त्व, आत्मा, जगत्, माया आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः यह मूलतः दर्शन ग्रन्थ होने पर भी एक सुन्दर भक्ति काव्य भी है। राजानक क्षेमराज कृत विवृति सहित स्तवचिन्तामणि का प्रकाशन कश्मीर नरेश महाराजा प्रतापसिंह के द्वारा 1918 ई० में कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली (दशम खण्ड) के अन्तर्गत श्रीनगर से हुआ था। इस मुद्रित ग्रंथ का संशोधन पण्डित मुकुन्द राम शास्त्री द्वारा किया गया था। राजानक क्षेमराज के अनुसार भट्टनारायण के पितामह का नाम परमेश्वर, पिता का अपराजित, माता का श्रीदया तथा ज्येष्ठ भ्राता का नाम शंकर था।[3] स्तवचिन्तामणि पर आज दो विवृतियाँ उपलब्ध हैं। इस पर प्रथम विवृति कश्मीरी शैवाचार्य श्रीराम द्वारा लिखित है।[4] दूसरी विवृति आचार्य क्षेमराज द्वारा रचित है, जो **स्तवचिन्तामणि विवृति** के नाम से प्रसिद्ध हैं। क्षेमराज के अनुसार उन्होंने स्तवचिन्तामणि पर विवृति अपने शिष्य गुणादित्य के पुत्र शूरादित्य की भक्तिपूर्ण प्रार्थना पर केवल तीन-चार दिनों में ही लिख डाली थी।[5]

आत्म दर्शन की प्राप्ति प्रत्येक आत्मवादी दर्शन का चरम उद्देश्य है। प्रत्येक भारतीय दर्शन आत्मदर्शन का साधन है। परमात्मा अथवा आत्मा के दर्शन के

1. अनुभवनिवेदनस्तोत्र, श्लोक० 3
2. द्रष्टव्य, Contribution of Kashmir to Sanskrit Literature, pp. 49-50.
3. स्तोत्रकारस्य पितामहः परमेश्वराख्यः, अपराजितः पिता।
श्रीदयाख्या माता, शंकराभिधानो ज्येष्ठो भ्राता अभवत्।। —स्तवचिन्तामणि, पृ० 10
4. "स्तवचिन्तामणि का एक अध्ययन और काश्मीर शैवदर्शन में उसका स्थान" (Ph.D. शोधप्रबन्ध), पृ० 37
5. तेनार्थिप्रणयाद् दिनैस्त्रिचतुरै र्यां क्षेम राजो व्यधात्।।
—स्तवचिन्तामणि विवृति, पद्य-2

लिए भक्ति का स्थान उच्च है—आत्मदर्शन की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब परमात्मा अथवा आत्मा के प्रति अनन्य भक्ति हो। कश्मीर की शैवी साधना में भक्ति की प्रत्येक पग पर आवश्यकता रहती है। भट्टनारायण की स्तवचिन्तामणि भी मुख्यतया भक्तिप्लावित स्तोत्र काव्य है।

भक्ति के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए भट्टनारायण कहते हैं कि भगवद् भक्ति ऐसा अञ्जन है, जिससे न केवल भक्त के अज्ञानमलावृत चक्षु निर्मल हो जाते हैं, अपितु वे ज्ञान चक्षु बन जाते हैं।[1]

शिव के प्रति अनन्य भक्ति की क्या कहें, शिव के प्रति कृत्रिम भक्ति (अर्थात् बाह्य पूजा, ध्यान, जप आदि रूप) भी परम शिव प्राप्ति रूप अकृत्रिम फल को देने वाली है तो पूजा, ध्यान, जप की अपेक्षा शिव के प्रति अनन्य अनुराग से युक्त भक्ति हो तो कहना ही क्या?[2]

शिव भक्ति वह कल्पवृक्ष है, जिससे अणिमा आदि सिद्धियों, सदैश्वर्य, भवक्षय आदि की प्राप्ति होती है।[3] परमेश्वर शिव की भक्ति का यह चमत्कार है कि भक्त की भक्ति जितनी प्रबल होती जाती है, आनन्द का प्रवाह भी बढ़ता चला जाता है। आत्मदर्शन की प्राप्ति करने वाली भगवद् भक्ति परमानन्दमयी होने से अमृत तुल्य है।[4]

शिव ही मन्त्र भी हैं, मन्त्रणीय भी हैं और मन्त्री भी हैं।[5]

भक्त कवि के लिए परम शिव ही बन्धु, मित्र और स्वामी, सब कुछ हैं, क्योंकि वही संसार समुद्र से पार लगाने में सक्षम हैं—

किमन्यैर्बन्धुभिः किंच सुहृद्भिः स्वामिभिस्तथा।
सर्वस्थाने ममेश त्वं य उद्धर्ता भवार्णवात्।।[6]

1. मायामयमलान्धस्य दिव्यस्य ज्ञानचक्षुषः।
   निर्मलीकरणे नाथ त्वद्भक्तिः परमाञ्जनम्।।—स्तवचिन्तामणि, पद्य 88
2. कृत्रिमापि भवद्भक्तिरकृत्रिमफलोदया।
   निश्छद्मा चेद् भवेदेषा किं फलेति त्वयोच्यताम्।। —वही, पद्य 108
3. अणिमादि गुणावाप्तिः सदैश्वर्यं भवक्षयः।
   अमी भव भवद्भक्तिकल्पपादपपल्लवाः।। —वही, पद्य 55
4. यावदुत्तरमास्वादसहस्रगुणविस्तरः।
   त्वद्भक्तिरसपीयूषान्नाथ नान्यत्र दृश्यते।। —वही, पद्य-50
5. मन्त्रोऽसि मन्त्रणीयोऽसि मन्त्री त्वत्तः कुतोऽपरः।
   स मह्यं देहि तं मन्त्रं त्वन्मन्त्रः स्यां यथाप्रभो।। —वही, पद्य-84
6. वही, पद्य-75

भट्टनारायण के अनुसार भगवद्भक्ति दीपशिखा है, जिस से तम का नाश होता है—"त्वद्भक्तिरेव प्रकाशकत्वात् दीपशिखा।।"[1] भक्तजनों के वल्लभ परमशिव बड़ी से बड़ी आपत्ति को दूर करने में तथा बड़ी से बड़ी संपत्ति को देने में समर्थ हैं।[2] स्तवचिन्तामणि का आदि से अन्त तक भगवान् शिव की स्तुति ही प्रधानतया प्रतिपाद्य है। भट्टनारायण के द्वारा स्तवचिन्तामणि का प्रणयन मनोवांछित फल प्राप्ति का एकमात्र लक्ष्य सामने रखकर ही नहीं किया गया है, अपितु सुन्दर तथा सरल शैली के द्वारा सामान्य जनों के लिए अद्वैत शैव दर्शन के रहस्यों को सुलझाकर बोधगम्य बनाने के लक्ष्य से भी किया गया है। ग्रन्थ में कवि का भक्ति भाव चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है। कवि की समस्त भावनायें भक्ति एवं धर्म की भावनाओं से ओत प्रोत हैं। भगवान् शिव के गुणगान करने में कवि थकता नहीं। कभी वह परमशिव को सकल गुण सम्पन्न कहता है तो कभी निर्गुण,[3] कभी उपकारी तो कभी निरूपकारी, कभी सूक्ष्म तो कभी स्थूल।[4]

मलों की परिपक्वता से मलिन मन वाला भक्त कवि कभी अपने आपको असहाय तथा दीन समझ कर यह सोचता है कि उसके मन में परमेश्वर का निवास करना संदेह युक्त है। इस प्रकार की उस की आत्मदीनता मर्मस्पर्शी है।[5] कभी वह परमशिव से उसकी भक्ति का वरदान माँगता है तो कभी परमेश्वर के सम्मुख होने की प्रार्थना करता है। उसे जीवन भर परमशिव के प्रति एकाग्र मन होकर उसका ध्यान करना है।[6] परमशिव ही सभी कार्यों के आरम्भ हैं, और वही सब कर्मों के अन्त भी।[7]

इस प्रकार यह ग्रन्थ जहाँ एक ओर धार्मिक भावनाओं से गुम्फित है, वहीं दूसरी ओर यह परमशिव के गुणगान, आत्मकल्याण तथा आत्म दैन्य की भावनाओं से भी पूरित है।

स्तवचिन्तामणि में स्तुति के परिवेश में कश्मीर शिवाद्वय के जिन सिद्धान्तों

1. स्तवचिन्तामणिवृत्ति (क्षेमराजकृत)।
2. क्षमः कां नापदं हन्तुं कां दातुं संपदं न वा।
   योऽसौ स दयितोऽस्माकं देवदेवो वृषध्वजः।। —स्त०चि०, पद्य-87
3. को गुणैरधिकस्त्वत्तः त्वत्तः को निर्गुणोऽधिकः। —स्त०चि०, पद्य-97
4. वही, पद्य-42
5. वही, पद्य-39
6. यावज्जीवं जगन्नाथ कर्तव्यमिदमस्तु नः।
   त्वत्प्रसादात्त्वदेकाग्रमनस्कत्वेन या स्थितिः।। —वही, पद्य 15
7. वही, पद्य-49

का प्रतिपादन किया गया है, उसमें मुख्य रूप से परम तत्त्व परमशिव के स्वरूप, शक्ति, शिव-शक्ति का अभेद, सम्बन्ध, माया, शुद्ध तथा अशुद्ध सृष्टि, जगत् लीला, मलत्रय, शैवयोग, षट्त्रिंशत् तत्त्वों का संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट रीति से प्रतिपादन किया गया है। कुछ एक पद्यों को छोड़कर शेष पद्यों की भाषा अत्यंत सरल है।

9. दीनाक्रन्दन स्तोत्र

दीनाक्रन्दन स्तोत्र भक्ति पूरित हृदय के भावों की मधुर अभिव्यक्ति करने वाला नितान्त रोचक स्तोत्र है। इसके लेखक कश्मीर के राजा जयसिंह (12 वीं शताब्दी) के सभारत्न कवि लोष्टक हैं। मंखक कवि द्वारा रचित 'श्रीकण्ठ चरित' के पच्चीसवें सर्ग में इनकी तथा इनके पिता रम्य देव की प्रशंसा में लिखित छः पद्य उपलब्ध होते हैं।[1] इन पद्यों से सूचना मिलती है कि लोष्टक (लोष्टक देव) एक सुशिक्षित परिवार से सम्बन्ध रखते थे। राजा जयसिंह के मंत्री लंकक द्वारा आयोजित साहित्य गोष्ठियों में इनके पिता रम्यदेव को एक दार्शनिक विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। ये एक योग्य वेदान्ती थे, जो छात्रों के शिक्षण एवं संरक्षण के लिए कल्पद्रुम के समान थे।[2] टीकाकार जोनराज के अनुसार इन्होंने वेदान्तग्रन्थ 'इष्टसिद्धि' पर विवरण भी लिखा है।[3] इन के सुयोग्य पुत्र लोष्टक भी अपने पिता रम्यदेव क समान उच्चकोटि के विद्वान थे। इनके मुख में वाणी का चातुर्य उसी प्रकार रहता था, जिस प्रकार कमलों पर भ्रमर समूह। ये संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और देशजा इन छः भाषाओं के ज्ञाता थे। इनकी दृढ़ व्युत्पत्ति युक्त रचनाओं के सामने प्रतिवादी कवियों के प्रश्न उसी प्रकार कुण्ठित हो जाते थे, जिस प्रकार बाण दृढ़ कवचों से टकरा कर टूट जाते हैं।[4] दीनाक्रन्दन स्तोत्र में इनकी प्रतिभा के दर्शन बखूबी हो जाते हैं। इस स्तोत्र में, जैसा कि स्तोत्र के नाम से ही सूचित होता है, शिव भक्त दीन कवि का अपने आराध्य देव शिव के प्रति आत्मनिवेदन है। 54 पद्यों वाले इस स्तोत्र में कवि ने आत्मोद्धार के लिए जो तर्क, विनय, हठ, दीनता एवं चतुरता दिखाई है, वह

---

1. श्रीकण्ठचरित, सर्ग 25, श्लोक 31-36
2. वही, सर्ग 25, श्लोक 32
3. 'इष्टसिद्धिं वेदान्तार्थप्रतिपादकशास्त्रविशेषं विवृण्वता विवरणेन प्रकाशयता।' वही, 25. 32 की जोन राजकृत टीका।
4. श्रीकण्ठचरित (मङ्खककृत), 25.34-35—कवि परिचयविषयक विस्तृत विवरण के लिए देखिए—प्रस्तुत ग्रन्थ, प्रथम भाग, कविलोष्टक प्रसङ्ग।

हृदयावर्जक है। काव्यशैली में लिखा गया यह स्तोत्र दार्शनिक विचारों से पूर्ण है। अपने इष्टदेव के प्रति कवि की हठभरी प्रार्थना कितनी मार्मिक है—

अहं पापी पापक्षपणनिपुणः शंकर भवा-
नहं भीतो भीताभयवितरणे ते व्यसनिता।
अहं दीनो दीनोद्धरणविधिसंज्जस्त्वमितर-
न्नजानेऽहं वक्तुं कुरु सकलशोच्ये मयिदयाम्।।[1]

हे शङ्कर! मैं पापी हूँ, आप पाप का विनाश करने में निपुण हैं। मैं भीत हूँ, भीतों को अभय प्रदान करना आपका व्यसन है। मैं दीन हूँ, आप दीनों के उद्धार के लिए तत्पर रहते हैं—इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं जानता, सब प्रकार से शोचनीय मुझ पर दया कीजिए।

अपनी दीनता एवं हीनता व्यक्त करते हुए कवि कहता है कि—इस निःसार सांसारिक विषयों को सारवान् समझकर सारा जीवन उन्हीं के उपार्जन एवं आस्वादन में व्यतीत कर दिया, हे शरणागत वत्सल! अब मेरे शिर पर अपने चरण रख दीजिए—

इत्थं न किं व्यवहृतं न किमुक्तमात्तं
किं वा न किं न कलितं ललितं न वापि।
सर्वत्र तत्र शरणं कृपणस्य मे त्व-
मेह्येहि देहि चरणं शिरसीन्दुमौले।।[2]

इस प्रकार मैंने क्या नहीं किया? क्या नहीं कहा? क्या नहीं (अपने लिए) लिया? (स्वार्थ सिद्धि के लिए) क्या नहीं सोचा? क्या नहीं चाहा? उन सब में मुझ कृपण का आप ही रक्षक हो। सिर पर चन्द्रमा को धारण करने वाले हे शिव! आइये और मेरे सिर पर अपना चरण रखिए।

यहाँ भक्त कवि का समर्पण भाव दर्शनीय है।

मृत्यु की अनिश्चितता से व्याकुल कवि शिव से शरण दान की याचना करते हुए कहता है—

"हे सर्वेश्वर महादेव! आज ही रक्षक आपके पास आ रहा हूँ—अर्थात्

1. दीना क्र०, पद्य-49
2. वही, पद्य-15

आपकी शरण आ रहा हूँ, क्योंकि अन्धे व्यक्ति के मुहँ पर पड़े चाँटे के समान मृत्यु जब अचानक मेरे भय के लिए आ गिरेगी, तब नष्ट हुई सम्पूर्ण शक्ति वाला मैं क्या कर सकूँगा।"[1] अपने पापों को गिनाते हुए कवि शिव से कृपादान की प्रार्थना करते हुए कहता है—"पाप करके मैंने अपने इस तुच्छ शरीर का ही पोषण किया, दीन जनों का नहीं। विवशतावश चिरकाल तक स्त्रियों के पैरों पर तो गिरा रहा पर गुरुओं के पैरों में नहीं। धन के विषय में तो मैंने लोभ किया, पर अच्छे कार्य में नहीं। इसलिए अत्यधिक सन्ताप कर रहा हूँ। अब मेरे द्वारा क्या किया जा सकता है।"[2]

54 पद्यों के लघुकाय इस स्तोत्र में कवि ने अज्ञान, कर्म तथा कर्मफल, मन की चञ्चलता, विषयों का कटुविपाक, सन्तान बन्धन, सांसारिक सम्बन्धियों की असारता, जन्म का कष्ट, प्राणत्याग के समय की भयावह दशा, नरक वर्णन, यमराज के अनुचर, भव बंधन से छूटने का मार्ग आदि विषयों को समाहित कर सरल एवं स्पष्ट शैली में शिव स्तुति की है, जिसमें कवि की दीनता, करुण क्रन्दन एवं इष्ट देव शिव के प्रति उपलम्भ बड़ा रोचक है।

मूलतः दार्शनिक विचारों से पूर्ण स्तुतिकाव्य होते हुए भी लोष्टक का यह लघुकाव्य साहित्यिक सुषमा से भी मण्डित है। कवि के आत्म निवेदन में दास्य भक्ति रस की समुचित अभिव्यक्ति हुई है। भाषा सरल तथा माधुर्य गुणोपेत है। अलंकारों में कवि ने अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास स्वभावोक्ति, परिकर एवं भाविक अलंकारों का भावानुकूल प्रयोग किया है। स्तोत्र के 47 पद्य वसन्त तिलका छन्द में निबद्ध हैं। शेष पद्यों में शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता तथा स्रग्धरा छंन्दों का प्रयोग हुआ है।

कश्मीरी स्तोत्र काव्य–परम्परा में दीनाक्रन्दन का स्थान—कश्मीरी स्तोत्र काव्य परम्परा में दीनाक्रन्दन स्तोत्र का स्थान निर्धारित करते हुए यह कहा जा सकता है कि लोष्टक का यह काव्य आकार में लघु होते हुए भी गुरु गुणोपेत हैं। ऊपर जिन तेरह कश्मीरी स्तोत्र काव्यों का विवरण प्रस्तुत किया है, उन्हें भावपक्ष, कलापक्ष एवं रोचकता की दृष्टि से विचार करें तो यह काव्य जगद्धर भट्ट की स्तुति कुसुमाञ्जलि की कोटि का काव्य सिद्ध होता है। इस का भक्तिभाव सर्वग्राह्य एवं हृद्य है। शैली सरल, मधुर तथा प्रसादपूर्ण है। इसमें अपने इष्टदेव को सर्वशक्ति सम्पन्न एवं स्वयं को दीन, हीन बताकर दास्य भक्ति भाव से जो स्तुति गाई गई है वह सहृदय हृदयावर्जकहै। देवीशतक एवं ईश्वर शतक की भाँति इस स्तोत्र में अंलकारों के बोझ से भाव पक्ष दब नहीं गया है, न ही शिव स्तोत्रावली

1. दीनाक्र. स्तो., पद्य-32
2. वही, पद्य-48

की भाँति यह प्रत्यभिज्ञादर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादक ही है, न ही अभिनव गुप्त के भैरव-स्तोत्र एवं क्रमस्तोत्र की भाँति किसी पाठक विशेष के द्वारा ही ग्राह्य है। यह तो भक्त हृदय सभी सहृदय पाठकों के लिए रुचिकर है।

संक्षेप में, लोष्टक कृत दीनाक्रन्दन स्तोत्र के सभी पद्य भक्ति के उत्कृष्टतम भावों से युक्त तथा उच्चकोटि की काव्यात्मक गुणों से समाहित शिवस्तुति परक काव्य है,–इसमें संदेह नहीं।

10. अर्धनारीश्वर स्तोत्र

अर्धनारीश्वर स्तोत्र बारहवीं शताब्दी ई० में कश्मीर में हुए राजतरंगिणी के प्रसिद्ध लेखक कल्हण की कृति हैं। कल्हण के नाम से **राज तरंगिणी, अर्धनारीश्वर स्तोत्र** तथा **जयसिंहाभ्युदय** ये तीन रचनायें सम्बद्ध की जाती हैं। राजतरंगिणी निःसंदेह कल्हण की रचना है। अर्धनारीश्वर के अट्ठारह श्लोकों में से सात श्लोक राजतरंगिणी के सात तरंगों के मंगलाचरणों से लिये गये हैं। अर्धनारीश्वर कल्हण की स्वतन्त्र रचना है, अथवा राजतरंगिणी के श्लोकों का संग्रहमात्र है, अथवा किसी ने उसके पद्यों का संकलन कर उसे अर्धनारीश्वर स्तोत्र की संज्ञा दे दी है, यह विचारणीय विषय है। जयसिंहाभ्युदय काव्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। अर्धनारीश्वर स्तोत्र हृद्य एवं मञ्जुल पदावली में निबद्ध कुल 18 श्लोकों की एक लघुकाय रचना होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। यह स्तोत्र चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी द्वारा मुद्रित 'काव्यमाला' के चतुर्दश गुच्छक में प्रकाशित है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें भगवान् शंकर तथा भगवती पार्वती के मिश्रित शरीर अर्धनारीश्वर (शिव)" की स्तुति की गई है। अर्धनारीश्वर का दक्षिण अङ्ग शिव का तथा वाम अंग पार्वती का माना जाता है। निम्नलिखित पद्य अर्धनारीश्वर शिव के कल्याणकारी रूपच्छटा का सुन्दर निदर्शन है–

भालं वह्निशिखाङ्कितदधदधिश्रोतं वहन् संभृत-
क्रीडत्कुण्डलिजृम्भितं जलधिजच्छायाऽच्छकण्ठच्छविः।
वक्षो बिभ्रदहीनृकञ्चुकचितं बद्धाङ्गनाऽर्धस्य वो
भागः पुङ्गवलक्ष्मणोऽस्तु यशसे वामोऽथवा दक्षिणः।।[1]

जिनका वामाङ्ग नारी (पार्वती का) है। जिनका ललाट केसर तिलक से सुशोभित है। जिनके कानों में दोलायमान कुण्डल क्रीड़ा करते हैं। जिनका कण्ठ शङ्ख वर्ण उज्जवल है। जिनके वक्षस्थल का दक्षिणाङ्ग नर (शिव का) है। जिनके

1. अर्धनारीश्वर स्तोत्र, पद्य-1

भाल पर वह्नि शिखा अंकित है। जिनके कानों के निकट खेलते हुए सर्पवृंद मुख खोलते रहते हैं। जिनके कण्ठ की छवि विषपान करने के कारण मलिन न होकर कान्तिपूर्ण है। जिनका वक्षस्थल शेषनाग कवच से वेष्टित है। वे अर्धनारीश्वर वृषभध्वज, चाहे दक्षिण अङ्ग हो अथवा वाम अङ्ग हो, आपका कल्याण करें। स्पष्ट है यहाँ कवि ने शिव की वन्दना अर्धनारीश्वर के रूप में की है।

देहार्धद्वय मिलन के अवसर पर पार्वती एवं शिव के मध्य घटित यह संवाद भी बड़ा रोचक बन पड़ा है–

मुञ्चेभाजिनमस्य कुम्भकुहरे मुक्ताः कुचाग्रोचिताः
किं भालज्वलनेन कज्जलमतः कार्यं तवाक्ष्णोः कृते।
संधाने वपुरर्धयोर्भगवतोरित्थं निषेधेऽप्यहेः
कर्तव्ये प्रिययोत्तरानुसरणोद्युक्तो हरः पातु वः।।[1]

देहार्ध द्वय मिलन के समय पार्वती ने जिज्ञासा की–"गजचर्म का परित्याग कर दीजिए।" महादेव ने उत्तर दिया–"इसके कुम्भ के मध्य में तुम्हारे पयोधर के लिए भूषण के उपयुक्त मुक्ता निहित है।" पार्वती ने पुनः जिज्ञासा की–"ललाट स्थित अग्नि का प्रयोजन क्या है?" महादेव ने उत्तर दिया–"इससे तुम्हारे नेत्रों के लिए कज्जल प्राप्त होते हैं।" अर्धाङ्ग विषयक प्रश्नों का उत्तर देकर, इसी प्रकार प्रिया के सर्प (अहि) का निषेध करने पर, उत्तर ढूँढने में उद्यत, महादेव आप लोगों की रक्षा करें।

देहार्धद्वय मिलन के परिणाम स्वरूप अर्धनारीश्वर के नारी वाले अर्धाङ्ग से सर्प, बैल एवं चन्द्रमा को बहिष्कृत होना पड़ा–

प्रौढाः कञ्चुकिनो जरद्वृषवरः कुब्जस्तुषारद्युति-
र्नित्याप्तोऽपि बहिष्कृतः परिकरः सोऽयं समस्तोऽप्यहो।
अर्धाद् यद्वसतीकृताद् भगवता चारित्रचर्याविदा
सा भिद्याद् दुरितं चराचरगुरोरन्तःपुरं पार्वती।।[2]

सदाचरण को जानने वाले भगवान् शंकर ने प्रौढ़ कञ्चुकी (सर्प), वृद्ध श्रेष्ठ वृषभ एवं वक्र चन्द्रमा इन सारे विश्वस्त परिकरों को भी जिस अर्धाङ्ग से बहिष्कृत कर दिया, चराचर के स्वामी महादेव की अर्धाङ्गिनी वह पार्वती पाप को नष्ट करें।

---

1. अर्धनारीश्वर स्तोत्र, पद्य-3
2. अर्धनारीश्वर स्तोत्र, पद्य-11

भाव यह है कि अर्धनारीश्वर की प्रतिमा में दक्षिणाङ्ग में नर वेश-भूषा एवं अलंकार आदि तथा वामाङ्ग में नारी वेश-भूषा एवं अलंकार बनाया जाता है। अर्धनारीश्वर के वामाङ्ग पार्वती के स्वरूप की दिशा में शिव के किसी भी पुरुष प्रतीक का चिह्न नहीं बनाया जाता। 'कञ्चुकी' पद के यहाँ दो अर्थ हैं—(1) शिव का अनुचर सर्प तथा (2) सेवक। प्राचीन काल में कञ्चुकी का राजा के अन्तःपुर तक प्रवेश होता था। सर्प जिस प्रकार केंचल से ढका रहता है, उसी प्रकार कञ्चुकी पुराकाल में श्वेत लवादा या अङ्गराखा जैसे परिधान से ढका रहता था।[1]

कश्मीरी स्तोत्र काव्यों में अर्धनारीश्वर एकमात्र स्तोत्र काव्य है, जो देवता या शिव के अर्धनारीश्वर (=नर-नारीमय) रूप की स्तुति से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से कश्मीरी स्तोत्र काव्यों में 'अर्धनारीश्वर' की अपनी अलग पहचान है।

देवता या शिव के अर्धनारीश्वर (नरनारीमय) रूप की कल्पना भारतीय प्रतीक विद्या की एक अनोखी थाती है। ऋग्वेद (1.164.16; 5.61.6) में स्त्री-पुरुष के इस मूलभूत मनोवैज्ञानिक आधार की स्पष्ट पहचान कही गई है—प्रत्येक स्त्री में अर्धभाग पुरुष और प्रत्येक पुरुष में अर्धभाग स्त्री का है। एक ही देवता स्वरूप को अथर्ववेद (10.8.27) में पुरुष और स्त्री अथवा कुमार-कुमारी कहकर सम्बोधित किया गया है, यही मान्यता पत्नी को पति का अर्धभाग या उसके अर्धाङ्गिणी होने के सिद्धान्त में निहित ज्ञात होती है। दार्शनिक एवं काल्पनिक परम्परा में 'नर-नारीमय' वपु के इसी दृष्टिकोण का पल्लवन बहुधा दिखाई देता है।[2]

(11) स्तुति कुसुमाञ्जलि

कश्मीर शैव स्तोत्रों में जगद्धरभट्ट (1350 ई०) द्वारा रचित स्तुति कुसुमाञ्जलि का विशेष स्थान है। भगवान् शंकर की स्तुति में लिखे गये इस ग्रन्थ में उनचालीस स्तोत्र हैं, तथा 1439 पद्य हैं। सोलह पद्यों वाले अन्तिम 'वंशवर्णन' नामक स्तोत्र में कवि ने मुख्यतः अपने वंशावली का परिचय दिया है। जिसके अनुसार जगद्धरभट्ट के पितामह का नाम 'गौरधर' था। वे शिव के अनन्य भक्त थे और सकल शास्त्रों में पारङ्गत थे। इन्होंने यजुर्वेद पर 'वेदविलास' नामक भाष्य लिखा था।[3] जगद्धर के पिता 'रत्नधर' भी विद्वज्जन शिरोमणि और गुणनिधान थे। वाग्देवी सरस्वती इनका आश्रय पाकर विष्णु पत्नी महालक्ष्मी के

1. राजतरङ्गिणी (भाष्यकार-रघुनाथ सिह), प्राक्कथन, पृ० 1
2. डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल : प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, (2002), पृ० 63-64
3. अनन्तसिद्धान्तपथान्तगामिनः समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः।
ऋजु यजुर्वेद पदार्थवर्णना व्यनक्ति यस्याद्भुतविश्रुतं श्रुतम्।। —स्तुति कु० 39.3

साथ ईर्ष्या करती थी। उनकी प्रौढ़ सूक्तियों को सुनकर प्रतिवादी आश्चर्य चकित हो जाते थे।[1]

महाकवि जगद्धर भट्ट पर भी सरस्वती की बड़ी कृपा थी। ये एक कुशल कवि होने के साथ-साथ निपुण तर्कशास्त्री भी थे। ये अपने तर्कों से अन्य वादियों को मौन रहने के लिए बाध्य कर देते थे।[2] सरस्वती ने इनके मुख और बुद्धि को स्वेच्छा विहार का स्थल बना लिया था।[3] जगद्धर अतीव विमत्सर, सहृदय, विविधाशास्त्रज्ञ, अतिशय विनीत, मधुरभाषी और सुशील थे। काव्य रचना में तो इतने प्रौढ़ थे कि सरस उक्तियों ने केवल उन्हीं का आश्रय ले रखा था।[4] इनका स्थिति काल सन् 1350 ई० के लगभग माना जाता है।[5] इन्होंने अपने पुत्र 'यशोधा' के पढ़ने के लिए बाल बोधिनी नामक कातन्त्र व्याकरण की वृत्ति लिखी थी, जिसका उल्लेख उन्होंने इस ग्रन्थ के आदि और अन्तिम श्लोकों में किया है।[6] एकत्र उन्होंने यह भी लिखा है कि उन पर किसी सुयोग्य गुरु की कृपादृष्टि से शक्तिपात हुआ था, इसी से इनमें ऐसी अपूर्व प्रतिमा एवं कवित्व शक्ति का उदय हुआ।[7]

स्तुति कुसुमाञ्जलि के अठतीस स्तोत्रों के नाम, इनके श्लोकों की संख्या इस प्रकार है :—

1. स्तुति प्रस्तावना (31 पद्य)
2. नमस्कारात्मक (30 पद्य)
3. आशीर्वाद स्तोत्र (60 पद्य)
4. मङ्गलाष्टक (8 पद्य)

---

1. स्तुति कु० 39.4, 5, 6
2. वही, 39.7
3. वही, 39.8; 33.2
4. वही, 39.9
5. द्रष्टव्य, स्तुतिकुसुमाञ्जलि (पन्त, त्रिपाठी, वैजापुरकर) प्राक्कथन, पृ० 24-25
6. "स्वसुतस्य शिशोर्यशोधरस्य स्मरणार्थं विहितो मया श्रमोऽयम्।
उपयोगमियाद्यदि प्रसङ्गादपरत्रापि ततो भवेदवन्ध्यः।"
"इति मितमतिबालबोधनार्थं परिहृतवक्रपथैर्मया वचोभिः।
लघुललितपदा व्यधायि वृत्तिर्मृदु सरला खलु बालबोधिनीयम्"
7. किन्तु क्वापि कदापि काऽपि पतिता सा साधुदृष्टिर्यतः।
प्राप्तः सूक्ति वपुर्जितोर्जितसुधास्वादः प्रसादः प्रभोः।। —स्तुति कु०, 39.15

5. कवि काव्य प्रशंसा (36 पद्य)
6. हराष्टक (8 पद्य)
7. सेवाभिनन्दन (42 पद्य)
8. शरणाश्रयण (52 पद्य)
9. कृपणाक्रन्दन (82 पद्य)
10. करुणाक्रन्दन (91 पद्य)
11. दीनाक्रन्दन (143 पद्य)
12. तमः शमन (32 पद्य)
13. प्रभुप्रसादन (43 पद्य)
14. हितस्तोत्र (28 पद्य)
15. करुणाराधन (40 पद्य)
16. उपदेशन (27 पद्य)
17. भक्तिस्तोत्र (30 पद्य)
18. सिद्धिस्तोत्र (25 पद्य)
19. भगवद्रूपवर्णन (31 पद्य)
20. हसितस्तोत्र (41 पद्य)
21. अर्धनारीश्वर (24 पद्य)
22. कंदिपदबन्धस्तोत्र (12 पद्य)
23. श्रृङ्खलाबन्ध (27 पद्य)
24. द्विपदयमक (28 पद्य)
25. रुचिरञ्जन (27 पद्य)
26. पादादियमक (35 पद्य)
27. पादमध्य यमक (34 पद्य)
28. पादान्त यमक (27 पद्य)
29. एकान्तर यमक (36 पद्य)
30. महायमक (81 पद्य)

31. नतोपदेश (30 पद्य)
32. शरणागतोद्धरण (8 पद्य)
33. कर्णपूर (45 पद्य)
34. अग्र्यवर्ण (13 पद्य)
35. ईश्वरप्रशंसा (25 पद्य)
36. स्तुतिफलप्राप्ति (41 पद्य)
37. स्तुति प्रशंसा (20 पद्य)
38. पुण्यपरिणाम स्तोत्र (30 पद्य)
39. वंशवर्णन स्तोत्र (16 पद्य)

इस प्रकार स्तुति कुसुमाञ्जलि के 39 स्तोत्रों के श्लोकों की कुल संख्या 1439 है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि जगद्धरभट्ट के काव्यकौशल एवं भाव सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह महाकाव्य स्तोत्रात्मक है। भक्त कवि जगद्धर भट्ट ने काव्य के प्रत्येक स्तोत्र को कुसुम मानकर उनकी अञ्जलि अपने इष्ट देव भगवान् शङ्कर को समर्पण की है। इसमें कवि की दीनता, इष्ट देव के प्रति उपालम्भ और करुण आक्रन्दन सहृदयों के हृदय को बलात् आकृष्ट करते हैं। वैसे तो इस महाकाव्य के सभी स्तोत्र एक से बढ़कर एक और अलग-अलग विशेषतासम्पन्न हैं तथापि 'कृपणाक्रन्दन', 'दीनाक्रन्दन' और करुणाक्रन्दन नामक नवम, दशम तथा ग्यारहवाँ स्तोत्र तो करुणमय भक्ति रस से परिपूर्ण हैं। अपनी दीन अवस्था का निवेदन करते हुए कहता है :—

> **दीर्घाण्यधान्यधिशुचीव भवन्त्यहानि**
> **हानिर्बलस्य शरदीव नदीजलस्य।**
> **दुःखान्यसत्परिभवा इव दुःसहानि**
> **हा निःसहोऽस्मि कुरु निःशरणेऽनुकम्पाम्।।**[1]

हे शिव! मेरे पाप ग्रीष्म काल में दिनों की भाँति अहर्निश बढ़ते जा रहे हैं। मेरा शारीरिक बल शरत्काल के नदी जल के समान प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है। मेरे दुःख दुर्जनों के द्वारा किये गये तिरस्कारों के समान दुःसह्य हो गये हैं।

1. स्तुति कु० 9.36

हाय, अब मैं इन कष्टों को नहीं सहन कर सकता। इसलिए हे नाथ! मुझ अनाथ पर शीघ्र अनुकम्पा कीजिये। स्वयं को शिव की कृपा का पात्र सिद्ध करने लिए दिया गया कवि का तर्क तो देखिये :—

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम्।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः।।[1]

हे नाथ! यद्यपि मैं अपने ही किये कुकर्मों से इस अधोगति को प्राप्त हुआ हूँ, तथापि अत्यंत कारुणिक आप के तिरस्कार का पात्र नहीं हूँ। क्योंकि यदि यौवन के गर्व से मदोन्मत्त कोई पशु किसी अन्ध कूप (गड्ढे) में गिर जाता है, तो उसे भी दयालु लोग उपेक्षित नहीं करते अर्थात् अन्धकूप से निकाल ही लेते हैं। अतः आप मेरा उद्धार करें।

स्तुति कुसुमाञ्जलि जगद्धर भट्ट की कवित्व-शक्ति का सुन्दर उदाहरण है। प्रायः सारे पद्य अतीव सरल, सरस और प्रसाद गुण युक्त हैं। काव्य के अधिकांश पद्य भक्ति रस से भरे पड़े हैं। कवि ने ऐसी प्रभावोत्पादक एवं हृदयावर्जक शैली में शिव के प्रति आत्म निवेदन किया है कि कोमल हृदय पाठकों का हृदय भक्तिभाव से भर उठता है।

रस, भाव, गुण, अलङ्कार सभी दृष्टियों से यह एक उत्कृष्ट काव्य है। शब्दों में माधुर्य और अर्थों में व्यङ्ग्यत्व दोनों का मञ्जुल सन्निवेश इस काव्य में है। काव्य के इन्हीं गुणों को देखते हुए कवि की अपनी कविता की प्रशंसा में भी अत्युक्ति नहीं लगती। उदाहरणार्थ :—

सूक्तिव्याजान् मम च वदनात् कर्णपेया सुधेयं
निर्गच्छन्ती जनयति न कं विस्मयस्मेरवक्त्रम्।[2]
मृगेन्द्रशावा इव कन्दरोदरात्, करीन्द्रकुम्भादिव मौक्तिकोत्कराः।
विनिःसरन्तः कवितुर्मुखादमी, मनोज्ञतां बिभ्रति कस्य न स्तवाः।।[3]

---

1. स्तुतिकु० 11.38; तथा देखिये, वही 10.59
2. स्तुतिकु० 17.2
3. वही, 38.14

मनस्विनीनामिव साचि वीक्षितं, स्तनन्धयानामिव मुग्धजल्पितम्।
अवश्यमासां मधु सूक्तिवीरुधां, मनीषिणां मानसमार्द्रयिष्यति।।[1]

प्रेमाणं मणिकर्णिकां प्रति बुधा मन्दीकुरुध्वं मतिं
मुक्तादाम्नि मा कृत स्पृशत मा ताम्बूलहेवाकिताम्।
भूषार्थं प्रभवन्ति कर्णपुलिने कण्ठे मुखाम्भोरुहे
देवस्य स्मरशासनस्य यदिमाः स्तोत्रावली सूक्तयः।।[2]

वैसे तो इस काव्य के सभी स्तोत्र सरल और सरस हैं, तथापि कृपणाक्रन्दन, दीनाक्रन्दन और करुणाक्रन्दन नामक नवम, दशम और ग्यारहवें स्तोत्र में तो करुणाश्रित भक्तिरस का सागर ही है।

अलंकारों में श्लेष[3] और यमक[4] के उपनिबन्धन में कवि ने विशेष रुचि दिखाई है। काव्य के बाइसवें स्तोत्र से लेकर तीसवें स्तोत्र पर्यन्त नौ स्तोत्रों की रचनाओं में कवि ने 'कादिपदबन्ध', 'श्रृङ्खलाबन्धन', 'द्विपद यमक', 'पादादि यमक', 'पादान्त यमक' और महायमक के गुम्फन के माध्यम से चित्र काव्य का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह उसके काव्यकौशल एवं शब्द पाण्डित्य को प्रकट करता है।

जगद्धरभट्ट की यह कृति शिव-स्तुति विषयक ग्रन्थों में सर्वोत्कृष्ट है। संस्कृत साहित्य में स्तुति कुसुमाञ्जलि जैसा दूसरा ग्रन्थ दुर्लभ है।

राजानक श्रीरत्नकण्ठ कृत 'लघुपञ्चिका' नामक टीका के कारण यह रचना और उपयोगी बन गई है।

12. ईश्वर शतक

ईश्वरशतक कश्मीरी कवि अवतार द्वारा अत्यधिक अलंकृत शैली में लिखित 113 पद्यों का स्तोत्र काव्य है। यह स्तोत्र काव्यमाला के नवम गुच्छक में प्रकाशित है। इस शतक में संस्कृत तथा काश्मीरी अपभ्रंश के भाषासमक[5] का उदाहरण

1. स्तुति कु., 38.18
2. वही, 39.13
3. वही, 1.14; 29.1
4. वही, 9.39
5. कुखे काले साव यमारेऽरस सुकुमार सदानव देव।
अनवदयाचित भव मदनारेऽचल मामुक्तियते मयि हेव।। ईश्वर शतक (काव्यमाला नवम गुच्छक), पद्य 46; तथा पद्य-105

उपलब्ध है, जिससे इनके कश्मीर देशीय होने की पुष्टि होती है। अवतार कवि के समय के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। 'स्तुति कुसुमाञ्जलि' के टीकाकार राजनकरत्नकण्ठ के पितामह का नाम भी 'अवतार' था। स्तुतिकुसुमाञ्जलि की टीका का रचनाकाल 1681 ई० (1738 विक्रम सं०) है। अतः इस टीका के लेखक का समय 1631 के आस-पास होना चाहिए।[2] टीकाकार अवतार एवं ईश्वर शतक के रचयिता अवतार कवि दोनों को अभिन्न मानने पर अवतार कवि का समय 17वीं शती ई० का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।[3] अवतार कवि की इस रचना पर आनन्दवर्धन के देवीशतक का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है, क्योंकि देवीशतक की भाँति यह काव्य भी चित्रालंकार की शैली में लिखा गया है। यह काव्य चित्र कावय के नाना प्रकारों से परिपूर्ण है। इसमें पद्यबन्ध,[4] डमरुबन्ध,[5] हलबन्ध,[6] गोमूत्रिकाबन्ध,[7] चक्रबन्ध,[8] तूणबन्ध,[9] त्रिशूलबन्ध[10] आदि नाना बन्धों में पद्य रचे गये हैं। कला पक्ष की प्रधानता के कारण काव्य का भाव पक्ष अत्यंत गौण हो गया है। इतना ही नहीं, कवि के शब्द-पाण्डित्य प्रदर्शन के मोह ने काव्य को इतना दुरूह बना दिया है कि काव्य को बोधगम्य बनाने के लिए स्वयं कवि को इस पर टीका लिखनी पड़ी।

1. इसका उल्लेख स्तुति कुसुमाञ्जलि की समाप्ति पर इन शब्दों में है :—
   सकलविपश्चिद्वर्यः प्रज्ञाजितवृत्रहामात्यः।
   अवतारोऽजनि तस्मात् पण्डितस्यावतार इवः।।
   तथा च द्रष्टव्य : ईश्वरशतक, पद्य-1 की काव्यमाला गुच्छक नवम पर टिप्पणी (प्रकाशकः चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी-1, 1987, पृ० 31)
2. आ० बलदेवः सं०सा०इ०, पृ० 367
3. वही, पृ० 367
4. ईश्वरशतक, पद्य 9
5. वही, पद्य-60
6. वही, पद्य-61
7. वही, पद्य-12, 13
8. वही, पद्य-49
9. वही, पद्य-48
10. वही, पद्य-24, 38, 59, 80
    इसी प्रकार स्तोत्र में काञ्ची बन्ध (पद्य-13), वज्रबंध (पद्य-19), परशुबंध (पद्य-28), सर्वतोभद्र (पद्य-27), गदाबन्ध (पद्य-38, 40-41), तवर्गबन्ध (पद्य-42), अष्टदलपद्म बन्ध (पद्य-43, 81, 82, 104), क्षुरिकाबन्ध (पद्य-45), खड्गबन्ध (पद्य-54-55), मुसलबन्ध (पद्य-56) धनुर्बन्ध (पद्य-57), स्फुरबन्ध (पद्य-66), शरबन्ध (पद्य-58), गजपद बन्ध (पद्य-97) बन्धों में बद्ध पद्य भी दर्शनीय हैं।

कवि ने यमक अंलकार के निबन्धन में विशेष रुचि प्रदर्शित की है, जिसके कारण यह काव्य इतना जटिल हो गया है कि पाठकों की सम्पूर्ण शक्ति इसके अर्थबोध में ही समाप्त हो जाती है, जिससे वह काव्य में से भक्ति भाव का आस्वाद नहीं ले पाता। अवतार कवि का यह स्तोत्र यमक अलंकार[1] और उसके विविध भेदों, जैसे महायमक (पद्य—52-53), आदि यमक (पद्य—3, 5, 6), पदान्त यमक (पद्य-93), पाद यमक (पद्य—4, 15, 36, 72, 93), सर्वपादान्तयमक (पद्य—7, 51), संपुट यमक (पद्य-8), समुद्रक यमक (पद्य—13) एवं पादाद्यन्त यमक (पद्य—33) के उदाहरणों से भरा पड़ा है।

निम्न पद्य में कवि का यमक अंलकार का मोह देखा जा सकता है—

भवोत्सुकानामसमाधिभिन्नः कश्चिद् यदन्यो न समधिभिन्नः।
ये त्वां प्रशंसन्ति सदा सभार्यास्त एव जीवन्ति सदा सभार्याः।[2]

हे ईश्वर! तुम हम उत्सुकों की विषम पीड़ाओं को दूर करने वाले बनो, क्योंकि कोई दूसरा हमारे समान समाधि भिन्न अस्थिरचित्त नहीं है। जो श्रेष्ठ जन सभा में तुम्हारी प्रशंसा करते हैं, वे ही दासों और भार्यायों के साथ जीवित रहते हैं।

यहाँ कवि का 'समाधिभिंद्' और 'सदासभार्याः' इन दो पदों के सहारे यमक की सृष्टि पर ही विशेष बल है। ईश स्तुति का भाव यमक के प्रभाव से आच्छन्न-सा हो गया है।

तीन अर्थों[3] का वाचक निम्नांकित पद्य भी दर्शनीय है—

सुखदो नवमत्वेन सुवर्णाकृतिविग्रहः।
नाग राग प्रथात्यक्तो गिरीशो जयतादसौ।।[4]

पद्य में 'गिरीशः' पद (1) महादेव, (2) मेरु पर्वत, (3) और वाणी के स्वामी वृहस्पति इन तीन अर्थों का वाचक है। जिससे शेष पदों के भी तीन-तीन अर्थ निकलते हैं—

(1) महादेव परक प्रथम अर्थ

सुन्दर स्वर्ग अथवा आनन्दों को देने वाला (-सु=शोभनानि खानि ददाति

1. ईश्वर शतक, पद्य-3, 70
2. वही, पद्य-6
3. ईश्वरशतक पद्य-39 की टिप्पणी—'अर्थत्रयवाचकोऽयम्'।
4. वही, पद्य-39

इति सुखदः), उत्कृष्ट होने से (अनवत्वेनोत्कृष्टत्वेन) सुन्दरवर्णों ब्राह्मणादियों अथवा अ-आ-आदि वर्णों की सृष्टि जिससे होती हैं, ऐसे शरीर संनिवेश वाले (सु=शोभनानां वर्णानां ब्राह्मणादीनामक्षराणां वा आ समन्तात् कृतिः=सृष्टिर्यस्मात् स सुवर्णाकृतिस्तादृशो विग्रहः शरीरसंनिवेशो यस्य), सर्वाङ्गभूषण होने के कारण नागराजदियों की प्रसिद्धि से विरहित (नागराजादीनां प्रथया प्रसिद्ध्या त्यक्तो विरहितः सर्वाङ्गभूषणत्वात् । तत्सहितः)। महादेव (गिरीश) की जय हो।

(2) मेरु पर्वत-परक द्वितीय अर्थ

सुन्दर गह्वरों वाला (सु=शोभनाः, खदाः=गह्वराणि यस्य सः सुखदः), उत्कृष्ट लक्ष्मी के भाव से उपलक्षित (नवा=उत्कृष्टा, मा=लक्ष्मीर्यस्य तद्भावेनोपलक्षित), सवर्णमयी आकृति वाले तथा विविध वस्तुओं को ग्रहण करने वाले (विविधानां वस्तूनां ग्रहो ग्रहणं यस्य च) अगराज की प्रसिद्धि से अविमुख पर्वतराज मेरु पर्वत की जय हो।

(3) वृहस्पति वाचक तृतीया अर्थ

नवम (ग्रह) होने के कारण सुखद (नवमत्वेन सुखदः), सुन्दर वर्ण की आकृति से युक्त शरीर वाली (सुवर्णा=शोभनवर्णा आकृति यस्य, तथा विधो विग्रहः=सन्निवेशो यस्य) अथवा विशिष्ट ग्रह, गजवाहन होने के कारण हाथी की प्रथा से विरहित वृहस्पति (गिरि=वाचि, ईशः=गिरीशः) की जय हो।

ऐसे दुर्बोध काव्य से कोई दुर्लभ पाठक ही भक्तिभाव का आनन्द ले सकते हैं। अलंकार रचना की दृष्टि से सुन्दर पुनरुक्तवदाभास का यह उदाहरण भी भावपक्ष की दृष्टि से अवर कोटि का ही है :—

रक्षावतारं गम्भीरं भवमुग्रं हरेश्वरं।
नय नीतिगुणं तं तु ममता प्रियतामिमाम्।।[1]

यहाँ रक्ष अवं, तारं गम्भीरम्, भवं उग्रम्, हर ईश्वर, नय नीति, गुणं तन्तुम्, अमत अप्रियः इन दो-दो पदों के अर्थों में आपाततः पुनरुक्ति दोष का आभास मिलता है। परन्तु वस्तुतः ये पद भिन्नार्थक होने के कारण यहाँ पुनरुक्तवदाभास है।

अवतार कवि पाण्डित्य प्रदर्शन एवं क्लिष्ट रचना के इतने आग्रही हैं कि

---

1. ईश्वरशतक, पद्य-2

इनके कई पद्य एकाक्षर,[1] द्वयक्षर,[2] त्र्यक्षर,[3] अकारैक स्वर,[4] एवं इकारैक[5] स्वर वाले हैं। एकाक्षर का एक पद्य प्रस्तुत है :–

न नानान्नानि नूनं नो न ना नीनानना न नः।
नानु नानेन नुन्नेना ननु नेनाननेन नौः।।[6]

कुल मिलाकर अवतार कवि का ईश्वर शतक यमकालंकार के विविध भेदों के उदाहरणों, विविध चित्रालंकारों एवं एकादि अक्षर वाले काव्यों में रुचि रखने वाले पाठकों के मन को आकृष्ट करने में भले ही समर्थ हो परन्तु भगवद्भक्ति रसामृत का आनन्द उठाने के इच्छुक सहृदय पाठकों को इस स्तोत्र काव्य से घोर निराशा ही होगी।

हाँ, जहाँ तक अवतार कवि के पाण्डित्य का प्रश्न है, वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् एवं चित्र काव्य रचना के उत्कृष्ट कवि हैं। यह बात ईश्वर शतक इस एक रचना से ही सिद्ध होती है, परन्तु काव्य की रसवत्ता की दृष्टि से विचार करने पर उनका यह काव्य 'अवर' कोटि का ही माना जायेगा।

कश्मीरी स्तोत्रकाव्य-परम्परा में दीनाक्रन्दन का स्थान–

कश्मीरी स्तोत्रकाव्य-परम्परा में दीनाक्रन्दन स्तोत्र का स्थान निर्धारित करते हुए यह कहा जा सकता है कि लोष्टक का यह काव्य आकार में लघु होते हुए भी गुरुगुणोपेत है। ऊपर जिन तेरह कश्मीरी स्तोत्रकाव्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है उनके विषय में भावपक्ष, कलापक्ष एवं रोचकता की दृष्टि से विचार करें तो यह काव्य जगद्धर भट्ट की **स्तुति कुसुमाञ्जलि** की कोटि का काव्य सिद्ध होता है। दीनाक्रन्दन स्तोत्र का भक्तिभाव सर्वग्राह्य एवं हृद्य है। शैली सरल, मधुर तथा प्रसादपूर्ण है। इसमें भक्त कवि द्वारा अपने इष्टदेव को सर्वशक्तिसम्पन्न एवं स्वयं को दीन, हीन बताकर दास्य भक्तिभाव से जो स्तुति गायी गयी है वह सहृदय हृदयावर्जक है। **देवीशतक** एवं **ईश्वरशतक** की भांति इस स्तोत्र में भावपक्ष अलङ्कारों के बोझ से दब नहीं गया है, न ही **शिवस्तोत्रावली** की भांति यह

---

1. वही, पद्य-35
2. वही, पद्य-22, 25, 29, 76, 92, 9, 101
3. वही, पद्य-17
4. वही, पद्य-75
5. वही, पद्य-65
6. वही, पद्य-35

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादक ही है, न ही अभिनव गुप्त के **भैरवस्तोत्र, क्रम स्तोत्र, देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र** एवं **अनुभव निवेदन स्तोत्र** की भांति किसी पाठक/साधक विशेष के द्वारा ही ग्राह्य है। यह तो भक्त हृदय सभी सहृदय पाठकों के लिए रुचिकर है।

संक्षेप में, लोष्टककृत दीनाक्रन्दन स्तोत्र के सभी पद्य भक्ति के उत्कृष्टतम भावों से युक्त तथा उच्च कोटि की काव्यात्मक गुणों से समाहित शिव-स्तुति परक काव्य है – इसमें सन्देह नहीं।

द्वितीय अध्याय
कवि लोष्टक (1125-1175 ई०)

कश्मीरी भक्त कवियों में लोष्टक या लोष्देव का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनका जन्म कश्मीर की सुरम्य भूमि में हुआ था। इनके कश्मीरी होने में निर्भ्रान्त प्रमाण यह है कि कश्मीर के राजा जयसिंह के मन्त्री, लङ्कक की प्रशंसा में निर्मित इनके 11 पद्य 'श्रीकण्ठचरित' में उपलब्ध होते हैं[1]। इससे यह भी स्पष्ट है कि कवि ने शिक्षाग्रहण एवं यौवनयापन वहीं किया होगा। इनके जीवन की सन्ध्या वाराणसी में बीती थी-जहाँ इन्होंने इस स्तोत्र की रचना की–

एतत्तीव्रं व्रतमुपचितं सैकते सिद्धसिन्धो-
र्वाराणस्यां शमदमदृशोरेष गाढोऽनुबन्धः[2]।

समय

मङ्खक ने "श्रीकण्ठचरित" के 25 वें सर्ग में विद्वानों के एक ऐसे सम्मेलन का वर्णन किया है, जिस में अनेक कवि अपनी रचनाएँ पढ़कर सुनाते हैं। यह सभा तत्कालीन राजा जयसिंह के मन्त्री लङ्कक और स्वयं मङ्खक के ज्येष्ठ भ्राता अलङ्कार ने आयोजित की थी। इस सभा में उपस्थित कवियों के वर्णन के प्रसङ्ग में मङ्खक ने लोष्टक और उनके पिता रम्यदेव का आदरपूर्वक उल्लेख किया है। इसप्रकार रम्यदेव तथा लोष्टक दोनों पिता-पुत्र राजा जयसिंह के समकालीन थे। सम्भवतः लोष्टक उस समय किशोर कवि थे, जो जयसिंह के मन्त्री लङ्कक के प्रेमपात्र बनने के इच्छुक थे। राजा जयसिंह का समय बारहवीं शताब्दी (1129–1150 ई॰) है।[3]

---

1. मङ्खक रचित श्री कण्ठचरित, सर्ग 25, श्लोक=37-47.
2. दीना क्र० स्तो०, पद्य=51.
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास (कीथ) पृ॰ 170

वंश

कवि लोष्टक ने प्रस्तुत स्तोत्र के एक पद्य में अपने वंश की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। वहाँ वे अपने वंश के लिए अभ्रंश विशेषण प्रयोग करते हैं।[1] इससे प्रतीत होता है कि उनके कुल में सामाजिक तथा धार्मिक मर्यादाओं का पालन होता था। उन्हीं मर्यादाओं के अनुकूल लोष्टक ने दान, भोग आदि में प्रवृत्त होने के बाद संन्यास ग्रहण किया था। इसी स्तोत्र के एक अन्य पद्य में वे अपने पिता रम्यदेव का उल्लेख करते हैं।[2]

मङ्खक कवि द्वारा रचित 'श्रीकष्ठचरित' के पच्चीसवें सर्ग में इनकी तथा इनके पितारम्यदेव की प्रशंसा में लिखित छः पद्य उपलब्ध होते है।[3] इन पद्यों से सूचना मिलती है कि लोष्टक एक सुशिक्षित परिवार से सम्बन्ध रखते थे। लङ्कक द्वारा आयोजित साहित्यगोष्टियों में इनके पिता रम्यदेव को एक दार्शनिक विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। ये एक योग्य वेदान्ती थे, जो छात्रों के शिक्षण एवं संरक्षण के लिए कल्पवृक्ष के समान थे।[4] टीकाकार जोन राज के अनुसार उन्होंने वेदान्त ग्रन्थ 'इष्ट सिद्धि' पर विवरण भी लिखा है।[5] उनका वैदुष्य, अहङ्कार तथा ईर्ष्या से रहित होने के कारण निर्मल था। उच्च स्तर के विद्वान् होने पर भी वे विनम्रता से युक्त थे।

पाण्डित्य

महाकवि लोष्टक अपने पिता रम्यदेव के समान उच्च कोटि के विद्वान् थे। मङ्खक के वर्णन के अनुसार इन के मुख में वाणी का चातुर्य उसी प्रकार रहता था जिस प्रकार कमलों पर भ्रमर समूह। ये छः भाषाओं संस्कृत, प्राकृत,

---

1. दीनाक्र॰ स्तो॰, पद्य 52
2. इति परिहृतवान् स्वकाव्य शिल्प प्रकटनमाकुलितो भाव-व्यथाभिः।
   व्यधित गिरीश रम्यदेवजन्मा तव पुरतो हठदैन्यतः प्रलापान्।। —वही, पद्य 50
3. श्रीकण्ठचरित, 25, श्लोक 31-36
4. यस्य व्यनक्ति काषाय ग्रहमारक्तया रुचा।
   नित्योपन्याससंक्रान्त वेदान्तार्थ इवाधरः।।
   नीत्वा सफलतांवल्लीरिष्टसिद्धिं विवृण्वता।
   श्रुतीनां पथि शिष्येषु येन कल्पद्रुमायितम्।।
   निस्तुषीकृतवैदुष्यं स्मयमात्सर्य संहृतेः।
   धृतप्रणतिपारम्यं रम्यदेवं तमैक्षत।। श्रीकण्ठचरित, सर्ग, 25, श्लोक 31.32
5. वही, सर्ग 25, पद्य 32 पर जोनराजकृत टीका– (इष्टसिद्धिं वेदान्तार्थप्रतिपादक शास्त्र विशेषं विवृण्वता विवरणेन प्रकाशपता)

शौरसेनी, मागधी, पैशाची और देशजा के ज्ञाता थे। इनकी दृढव्युत्पत्तियुक्त रचनाओं के सामने प्रतिवादी कवियों के प्रश्न उसी प्रकार कुण्ठित हो जाते थे, जिस प्रकार बाण दृढ़ कवचों से टकरा कर टूट जाते हैं[1]।

मङ्खक के इस वर्णन से निम्न तीन बातों का सङ्केत मिलता है

(क) कवि लोष्टक का अनेक भाषाओं पर अधिकार था। ये संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत आदि अन्य पाँच भाषाओं से भी सुपरिचित थे।

(ख) इन्होंने अनेक रचनाएँ लिखी होंगी किन्तु आज वे अनुपलब्ध हैं।

(ग) साहित्यजगत् में प्रतिष्ठा पाने के लिए इन्हें सङ्घर्ष का भी सामना करना पड़ा होगा। जहाँ एक ओर तो इन की कविता को मन्त्री लङ्कक की विद्वद्गोष्ठी में सम्मान प्राप्त था, दूसरी ओर इनके अनेक कटु आलोचक भी रहे होंगे। परन्तु अपने पाण्डित्य के बल पर अपने प्रतिद्वन्दियों को परास्त करने में समर्थ हुए थे।

कुछ अन्य कवि लोष्ठक से ईर्ष्या रखते थे। इस बात की ओर सङ्केत स्वयं कवि ने दीनाक्रन्दनस्तोत्र के एक पद्य में इस प्रकार दिया है कि काव्यकला रूपी कामिनी अन्य कवियों को चिढ़ाने के लिए उनका चुम्बन करती है–

ईर्ष्यायै परवादिनां कविकलाकान्ता यतिं मामियं
यच्चुम्बत्यधुनापि तन्मयि भवत्यब्रह्मचर्यं न किम्।
एतावत्स्खलितं क्षमस्व भगवन् भूयोऽपि तुभ्यं शपे।।
श्रीविश्वेश्वरदेव नैव भवितास्म्यस्या रहस्यातिथिः[2]।

कवि का ज्ञानक्षेत्र विस्तृत था, इस में सन्देह नहीं है। साहित्यशास्त्र विषयक अपने विशाल ज्ञान के सम्बन्ध में कवि ने एक अन्य पद्य में स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा है–

---

1. वाग्देवतालिनीलीलाधूतपक्षतिचातुरीम्।
वदनाम्बुरुहे यस्य भाषा षडधिशेरते।।
खलानां यत्प्रबन्धेषु दृढव्युपत्तिवर्मसु।
प्रोद्यच्चोद्यमया दूरे कुण्ठिता इव पत्रिणः।।
कतिचिल्लोष्टदेवस्य तस्येति मुखतोऽशृणोत्।
श्रीलङ्ककं प्रति प्रोतचारुचाटुरसाः गिरः।।–श्री कण्ठचरित, सर्ग-25, श्लोक = 34-36.

2. दीनाक्र० स्तो० पद्य = 53.

.......सुमहति विहितो वाङ्मयाब्धौ हनूमत्संरम्भ......[1]

इसके अतिरिक्त स्तोत्र की साहित्यिक सुषमा भी इनकी इस कथन को पुष्ट करती है।

साहित्यशास्त्र के अतिरिक्त पुराण, दर्शन और व्याकरण के भी ये ज्ञाता थे। स्तोत्र में उपलब्ध नरक वर्णन[2], यमदूत वर्णन[3], शिव स्वरूप वर्णन[4] आदि इनके पौराणिक ज्ञान की पुष्टि करते हैं। स्तोत्र के 23 वें पद्य में कवि ने एक साथ तीन पौराणिक आख्यानों की ओर सङ्केत किया है-

(क) शिव द्वारा श्वेतराजा को यमभय से छुड़ाना।

(ख) शिव द्वारा मरुत्त राजा के नगर में सात दिन तक सुवर्ण-वर्षा।

(ग) मुनिकुमार उपमन्यु के लिए शिव द्वारा दुग्ध प्रदान[5]।

इन आख्यानों से स्पष्ट है कि कवि ने पुराणों का भी गहन अध्ययन किया होगा।

इसके अतिरिक्त स्तोत्र में विद्यमान अज्ञान[6], विषय कटु विपाक[8], सन्तानबन्धन[8], कर्म तथा कर्मफल[9] आदि विषय उनके दर्शन शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान के परिचायक हैं।

इसके अतिरिक्त वे व्याकरण के भी पण्डित थे। कवि कालिदास के रघुवंश पर उनके द्वारा रचित संस्कृत की टीका अभी तक अप्रकाशित है।[10] इसमें कवि ने समासों को तोड़कर संस्कृत व्याख्या लिखी है, जिससे निश्चित है कि उन्हें व्याकरण का असाधारण ज्ञान था।

---

1. दीनाक्र० स्तो० पद्य = 52
2. देखिए प्रस्तुत रचना, पृ = 12
3. वही, पृ० = 13
4. वही, मृ० 19
5. देखिए-काव्यमाला गुच्छक, षष्ठ भाग (नारायाण सागर प्रैस, बम्बई सन्- 1890 में प्रकाशित) दीनाक्रन्दन स्तोत्र के 23 वें पद्य पर टिप्पणी।
6. देखिए, प्रस्तुत रचना, पृ० = 13
7. वही, पृ० = 8
8. वही, पृ० = 9
9. वही, पृ० = 15
10. कश्मीर कैटलाग, नं० = 71

लोष्टक को अपने पाण्डित्य पर गर्व भी है। जल्हण ने अपनी सूक्ति मुक्तावली में लोष्टक के नाम से एक श्लोक उद्धृत किया है-जिस में ये अपने को गद्य कवि बाण से भी महान् बताते हैं[1]।

साहित्य

कवि लोष्टक के नाम से आज दो रचनायों उपलब्ध हैं–

(1) महाकवि कालिदास के रघुवंश पर संस्कृत टीका[3] और

(2) दीनाक्रन्दन स्तोत्र।

1. रघुवंश-टीका

इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति रघुनाथ अनुसन्धान पुस्तकालय में उपलब्ध है, जिस में 195 पत्र हैं। लिपि देवनागरी है। इस में कवि ने कालिदास रचित 'रघुवंश' पर सरल शैली में संस्कृत में टीका लिखी है। कठिन शब्दों के सरलार्थ दिये गये हैं तथा समासों का विग्रह करके तत्पश्चात् 'इत्यर्थः' कह कर अभिप्राय स्पष्ट किया गया है।

पण्डित, विद्वत् आदि विशेषणों के साथ प्रत्येक सर्ग की समाप्ति में लोष्टक नाम के व्यक्ति को इसका रचयिता कहा गया है।

2. दीनाक्रन्दनस्तोत्र

यह शिव की स्तुति में निर्मित एक लघु स्तोत्र काव्य है। जिसमें 54 रोचक पद्य हैं। इस में कवि ने आत्मोद्धार के लिए जो तर्क, विनय, हठ एवं चतुरता दिखाई है, वह हृदयावर्जक है। यह स्तोत्र काव्यमाला षष्ठ गुच्छक में प्रकाशित है। काव्यमाला का यह संस्करण कश्मीर की दो हस्तलिपियों पर आधारित है। एक हस्तलिखित प्रति देवनागरी लिपि में है और दूसरी शारदा लिपि में। संस्कृत की हस्तलिखित प्रति केवल चार पत्रों में है और शारदा में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति 20 पत्रों में है। शारदा लिपि में लिखित स्तोत्र के 20 श्लोक तक संक्षिप्त टिप्पणी भी दी गई है। दोनों हस्तलिखित प्रतियों में परस्पर पाठभेद और अन्तिम

---

1. प्रवृत्त्यैवातिवक्रेण गुणदैर्घ्यं वितन्वता।
   मया शरासनेनेव बाणो दूरं निरस्यते।।
   -जल्हणकृत, सूक्तिमुक्तावली, पृ० = 49, श्लोक = 10.
2. कश्मीर कैटलाग नं० 71.

कुछ पद्यों में क्रमपरिवर्तन भी है। 50 वें पद्य और 51 वें पद्य का एवं 52 वें पद्य का तथा 53 वें पद्य का क्रम विपर्यय मिलता है।

(क) संस्कृत में प्राप्त हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है--
"इति पण्डितभट्टलोष्टकविरचितं दीनाक्रन्दनस्तोत्रं समाप्तम्" तथा

(ख) शारदा लिपि में प्राप्त हस्तलिखित प्रति में–
"इतिलोष्टकभट्टविरचितं दीनाक्रन्दतस्तोत्रं समाप्तम्"।

3. अन्य रचनाएँ

इसके अतिरिक्त कवि की अन्य रचनाएँ भी रही होंगी, परन्तु अभी उनकी उपलब्धि के विषय में अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यही कहा जा सकता है कि ये अनेक कृतियों के रचयिता रहे होंगे। इसके लिए तीन तर्क दिए जा सकते हैं:-

(1) मङ्खक ने लोष्टक के वर्णन के प्रसङ्ग में उक्त 'खलानां' यत्प्रबन्धेषु दृढव्युत्पत्तिवर्मसु' इस वाक्य से उनके अनेक कृतियों के रचयिता होने का सङ्केत मिलता है।

(2) लङ्कक द्वारा आयोजित गोष्ठी में लोष्टक का होना भी उनके महान् कवि होने की पुष्टि करता है।

(3) इसके अतिरिक्त जल्हण द्वारा सूक्तिमुक्तावली में उद्धृत श्लोक से भी उनकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं की ओर सङ्केत मिलता है।

तृतीय अध्याय
विषय विवेचन

कश्मीर के कवि लोष्टक द्वारा रचित "दीनाक्रन्दनस्तोत्र" 54 श्लोकों का एक लघु स्तोत्र है, जिस में कवि ने भगवान् शङ्कर की स्तुति अत्यन्त मार्मिक ढँग से प्रस्तुत की है। यह स्तोत्र भक्ति रस से आप्लावित हृदय के भावों की अभिव्यञ्जना करने में पूर्ण सफल हुआ है। यद्यपि कवि का शिव के प्रति आत्मनिवेदन ही इस स्तोत्र का प्रधान विषय है तथापि कुछ अन्य ऐसे विषयों का भी इस में समावेश किया गया है, जिनके महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकतीं। इन विषयों का यहाँ सङ्क्षेप में वर्णन किया जा रहा हैः–

1. सांसारिक दुखों का चित्रण

संसार में सब कुछ दुःखात्मक है। यहाँ प्रारम्भ में जो सुखमय प्रतीत होता है, वह भी वस्तुतः दुःखमय ही होता है। इस तथ्य की पुष्ट करते हुए कवि ने स्तोत्र के कई स्थलों में सांसारिक दुःखों का वर्णन किया है। स्तोत्र में जिन सांसारिक दुःखों का उल्लेख है, उन में निम्न मुख्य हैंः–

(क) बिषयों का कटुविपाक

प्रारम्भ में सुखद प्रतीत होने वाले प्रेय विषयों का भोग परिणाम में दुःखमय एवं अश्रेयस्कर होता है। विषयों का प्यासा मानव जब इनका एक बार आस्वाद कर लेता है तो उन से मुक्त नहीं हो पाता। क्योंकि विषयतृष्णा ऐसी है कि इसे शान्त करने का प्रयास करने पर भी यह कम होने के बजाय बढ़ती ही जाती है और मानव को अन्त में भीषण दुःखदायक परिणाम भुगतना पड़ता है। इस तृष्णा से व्याकुल हुआ मानव कोई पुण्य नहीं कर पाता, जिस के कारण उसे जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं मिलता। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कवि लोष्टक ने विषयतृष्णा की उपमा क्षुद्र जलाशय के उस जल से दी है जो

प्यास को तो नहीं मिटा पता, उलटा पीने वाले को रोगी बना देता है[1]।

सांसारिक विषयों में फँसकर पड़े मानव का मन केवल राग और द्वेष के अधीन रहता है। राग से जलता हुआ मनुष्य ऐसा कोई उपाय नहीं जान पाता जिससे उसे मृत्यु भय से छुटकारा मिल सके[2]।

सुख प्राप्ति की वाञ्छा से विषयों में डूबे हुए व्यक्ति की बुद्धि अज्ञान से आच्छन्न हो जाती है, जिस के कारण वह अप्रिय को प्रिय, असत्य को सत्य, अपवित्र को पवित्र तथ दुःख को सुख समझने लगता है। यहाँ तक कि उसकी बुद्धि मृत्यु का भी ध्यान नहीं कर पाती। जब मृत्यु अचानक उसके शिर पर आ जाती है, तब वह किंकर्त्तव्य मूढ हो जाता है, क्योंकि उसने संसार में आकर अबतक दुःख देने वाले विषयों का ही सेवन किया है[3]।

(ख) सन्तान- बन्धन

इस संसार में मानव अपनी सन्तान से प्राणों से भी अधिक प्रेम करता है इस संसार में प्राणों से प्यारी यदि कोई चीज है तो वह है- अपनी सन्तान। सन्तान के लिए धर्म को छोड़ कर अधर्म की शरण लेने वाले, सत्य की उपेक्षा कर असत्य का साथ देने वाले, पवित्र कर्मों को छोड़ कर कुमार्ग का अनुसरण करने वाले, कितने ही व्यक्तियों को यह पृथ्वी माता अपनी गोद में धारण किए हुए है।

शिशु एक निश्छल मन लेकर ही संसार में आता है, पर ज्यों- ज्यों वह बड़ा होता जाता है- त्यों- त्यों संसार के विभिन्न विषय उसे घेरते जाते हैं। यौवन आने पर वह विवाह- बन्धन में बंध जाता है। सन्तान उत्पन्न होने पर उसका मोह उसे जकड़ लेता है। सन्तान को सुख देने के लिए वह सभी प्रकार के कष्ट भी सहता है। जिसे वह पाप समझता है, उस काम को भी वह विवश होकर करता है, लेकिन जब उस पर कोई विपत्ति आती है तो माता-पिता भाई-बन्धु कोई उसकी विपत्ति दूर नहीं कर सकते।

कवि ने इस कटु सत्य को स्तोत्र में प्रभावशाली ढँग से प्रस्तुत किया है:- मोह के वश में किया गया विवाह संसार के सम्पूर्ण बन्धन का मूल कारण है, क्योंकि उससे उत्पन्न सन्तान के प्रेमपाश से जकड़ा हुआ मनुष्य सुगमता से छूट नहीं पाता। उसकी दशा भयङ्कर नागों के पाश से लिपटे व्यक्ति की तरह हो

1. चुण्ठीजलैरिव सुखैः परिणामदुःखैः। - दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 1.
2. रागद्वेषैकनिष्ठहृदयो भगवन्नभूवम्। - वही, पद्य = 14.
3. लीनेन भूरिविषयाध्वनि सौख्यलोभात्। - वही, 38.

जाती है। भयङ्कर नागपाश जितना खतरनाक होता है, सन्तान का मोह भी वैशा ही होता है[1]।

सन्तान के झूठे प्रेम से बंधे मनुष्य की दशा नागपाश से वेष्टित व्यक्ति से अधिक दयनीय होती है, क्योंकि सर्पों से घिरे व्यक्ति का कष्ट मृत्यु तक ही सीमित है। यदि वह व्यक्ति सांसारिक बन्धन के कारणभूत अज्ञान जाल से मुक्त रहा हो तो परलोक उसके लिए श्रेयस्कर ही होगा। परन्तु सन्तान के प्रेम-जाल में बंधा मनुष्य उसके पालन-पोष्ण के लिए न जाने क्या क्या कुकर्म करता है। जिस के फलस्वरूप उसे परलोक के सुख से वाञ्चित हो नरक का भीषण कष्ट भोगना पड़ता है। इसके साथ ही उसका सांसारिक जीवन भी मृत्यु से अधिक दुःखमय होता है, क्योंकि अपनी सन्तान के लिए उसे दूसरों के द्वार खट-खटाने पड़ते हैं। सन्तान के उत्कर्ष के लिए उसे सैकड़ों अपमान सहने पड़ते हैं। प्रायः वह कुछ पाने के बजाय दुष्टजनों के घर से अपमानित होकर लौटता है। कवि उसकी तुलना उस कुत्ते से करते हैं जो दाता की प्रसन्नता के लिए पूँछ हिलाता है, जूठन की याचना करता है, परन्तु कुछ पाने के बजाय दुत्कार पाकर लोटता है[2]।

प्राणों से भी प्यारे वे पुत्र-पुत्रियाँ जिन के लिए वह अच्छे मार्ग से भटक कर बुरे मार्ग पर चला, वे भी उस का साथ नहीं देते। मूर्ख मानव तब भी नहीं संभलता। मृत्यु, परदेशगमन आदि कारणों से उनका वियोग होने पर वह अबला नारी की भाँति विलाप करने लगता है। उसका जो वास्तविक कर्तव्य है– सज्जनोचित कर्म-उसे नहीं कर पाता[3]।

(ग) जन्म का कष्ट

माता एवं पिता के रज और वीर्य के संयोग से शिशु मातृ गर्भ में प्रवेश करता है और जब तक वह गर्भ में निवास करता है, तब तक उसे भीषण कुम्भीपाक सदृश कष्ट भोगना पड़ता है।

---

1. मोहात्कृतःपरिणयोऽप्यनयो महीयान्।

- दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 11.

2. तत्पोषणाय विदुषापि मया समस्त –
मौचित्यमुज्झतवतात्तवता कुकृत्यम्।। – वही, पद्य = 12.
3. स्त्रीवन् मया विलपितं विहितं न किञ्चि-
त्कृत्यं सतां समुचितं ह ह हा हतोऽस्मि।। -वही, पद्य = 13.

गर्भ में रहते हुए उसे अपने पूर्वजन्मों का स्मरण आता है। उन में भोगी हुई अनेक प्रकार की विपत्तियों का स्मरण कर वह अत्यन्त दुःखी जो जाता है और ईश्वर से यह प्रार्थना करता है कि अब की बार गर्भ से निकलने पर भगवत् स्मरण आदि ऐसे शुभ कर्मों में मन लगाऊँगा, जिससे पुनर्जन्म-ग्रहण करना न पड़े[1]।

ऐसी प्रतिज्ञा के बाद गर्भवास की अवधि पूर्ण हो जाने पर जब वह गर्भ के रास्ते निकलने लगता है, तब भी उसे तीव्र कष्ट का सामना करना पड़ता है। यह कष्ट इतना प्रखर होता है कि इस के केवल स्मरण से भीषण भय उत्पन्न होता है[2]।

(घ) प्राणत्याग के समय की भयावह दशा

शास्त्रों एव पुराणों में कहा गया है कि मनुष्य की आयु जब क्षीण हो जाती है तो वह किसी न किसी कारण मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अग्निपुराण में कहा गया है कि–

आयुषोऽन्ते नरः प्राणैरनिच्छन्नपि मुच्यते।।
जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद् व्याधि पतनं गिरेः।
निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही प्राणै विमुच्यते।।[3]

अर्थात् अपनी आयु समाप्त होने पर शरीरी, पानी, आग, विष, शस्त्र, भूख, रोग एवं पर्वत से पतन आदि किसी कारण से, उसकी इच्छा के विपरीत ही, मर जाता है।

कवि लोष्टक ने स्तोत्र में मृत्यु समय की दशा का इस प्रकार वर्णन किया है।

मृत्यु के समय दशों इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्मों से विरत हो जाती हैं, मन की गति रुक जाती है और प्राण टूट जाते हैं[4]।

मृत्यु अचानक आकर प्राण हरण कर लेती है। उसका आगमन अन्धे के मुख पर पड़े चाँटे की तरह होता है अर्थात् जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति को यदि

---

1. .... तद् दुःखमन्वभवमीश गभीरकुम्भपाकम्।
   -दीनाक्र० स्तो०, पद्य –6
2. यस्मिन्निकाममभिमानधनास्त्रपन्ते। – वही, पद्य = 8.
3. अग्नि पु०, अ० = 103.
4. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 30,

कोई चांटा मार दे तो आहत होने से पूर्व उसे कुछ ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार मृत्यु के आने का भी पता नहीं होता[1]।

विवेक्शून्य होकर दुष्कर्मों को करता हुआ मानव जब मृत्यु को स्मरण करता है तो वह इतना डर जाता है कि वह खाने-पीने में भी समर्थ नहीं होता-निश्चेष्ट हो जाता है[2]।

मृत्यु की तो बात ही क्या यमराज के सेवकों की हुङ्कार का स्मरण मात्र भी मनुष्य को मूर्च्छित कर देता है[3]।

इस प्रकार जगत् के सभी विषयों की दुःखात्मकता दिखाते हुए कवि ने पाठकों के हृदय को "सर्वं दुःखमयं जगत्" इस वाक्यार्थ की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया है। कवि ने इस स्थिति को" दुःस्वप्न एष विषमो भवदुःखानामा[4]" और "भवघोरविपत्"[5] आदि वाक्यों द्वारा प्रकट किया है।

2. नरक का वर्णन

(क) नरक का कष्ट : मरने के बाद पापी मनुष्य को यमदूत नरक में ले जाते हैं और वहाँ उन्हें अनेक प्रकार का कष्ट देते हैं। नरक में भीषण से भीषण कष्ट देने के लिए अनेक साधन होते है। चण्डाल, यमदूत कुछ पापियों को आपस में खींचते हुए, पीडित करते हुए, शिर नीचे लटका कर गड्ढों में गिरा देते हैं। कुछ को तलवार सदृश पत्रों वाले वन में घुमाते हैं, औरों को तीक्ष्ण दांत वाले कुत्ते खाते है।

नरक वर्णन के प्रसंग में भागवत में लिखा है

यन्त्रचक्रेषु तिलवत् पीड्यन्ते तत्र केचन।
अङ्गारेषु च दह्यन्ते तथा दुष्कृतकारिणः।।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते पच्यन्ते सिकतासु वै।
पाट्यन्ते तरुवच्छस्त्रैः पापिनः क्रकचादिभिः।।

---

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 32.
2. वही, पद्य = 34, 38.
3. वही, पद्य = 40.
4. वही, पद्य = 47.
5. वही, पद्य = 45.

भिद्यन्ते भागशः शूलै स्तुद्यन्ते सूक्ष्मसूचिभिः ।
एवं त्वया कृतो दोषस्तदर्थं दण्डनं त्विति ।।[1]

नरक के इन्हीं कष्टों की ओर कवि ने स्तोत्र में इस प्रकार सङ्केत किया है-

नरक अत्यन्त धोर है, उस में जो भीषण कष्ट हैं उनका सहन करना तो क्या स्मरण मात्र तीव्र भय को पैदा करने वाला है[2] ।

नरक-भूमि में हमेशा अन्धकार छाया रहता है और वहाँ हमेशा अग्नियां जलती रहती हैं[3] ।

(ख) यमराज के अनुचर

मृत्यु के बाद यमराज के दूत मनुष्य को यमराज के पास ले जाते हैं। ये अत्यन्त भरुङ्कर होते हैं:-

नीयते यमदूतैस्तु यमं प्राणिभयङ्करैः ।
कुपथे दक्षिणद्वारि धार्मिकः पश्चिमादिभिः ।।[4]

स्त्रोत में कवि ने यमदूतों का निम्न प्रकार से वर्णन किया है–

यमराज के सेवक अत्यन्त भयङ्कर होते हैं। उनकी भौहें इतनी डरावनी होती हैं कि उनके स्मरण मात्र से मनुष्य भयविह्वल हो जाता है[5] ।

उन की भयानक हुंकार के स्मरण मात्र से मानव मूर्च्छित हो जाता है और भय से व्याकुल होकर प्राणों को त्याग देता है। ये बड़े निर्दयी होते हैं। ये छोटा, बड़ा, कुछ नहीं देखते क्या बालक, क्या जवान, क्या वृद्ध सब को ले जाते हैं[6] ।

3. अज्ञान

शास्त्रो में अज्ञान को मानव के जन्म-मरण का कारण माना गया है। अज्ञान के वशीभूत होकर मानव दु:ख-सुखों में लिप्त रहता है। अज्ञान के विनष्ट हो जाने पर मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है-

---

1. देखिए = श्रीमन्महाभागवत, चतुर्थ भाग, अ० = 145.
2. दीनाक्र० स्तो० पद्य = 4, 16.
3. वही, पद्य = 20.
4. अग्निपुराण, दश० अ० - 4.
5. दीनाक्र० स्तां०, पद्य = 16, 39.
6. वही, पद्य = 40, 42.

इह तावत् समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते।
अज्ञानं संसृते मूलं ज्ञानं मोक्षैककारणम्।।[1]

अज्ञान से ग्रस्त मनुष्य क्षणिक, दुःख देने वाले एवं त्याज्य सांसारिक विषयों को स्थायी, सुखात्मक और ग्राह्य समझते हुए उनकी प्राप्ति की इच्छा करता है, जिस के कारण उसे बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

"क्षणिक, दुःखद, असार एवं हेय विषयों को स्थायी, सुखद, सार तथा उपादेय समझ लेना ही अविद्या या मिथ्या ज्ञान है। यह जन्म का कारण है[2]।

इस स्तोत्र के कई पद्यों में कवि ने अज्ञान का वर्णन किया है। अज्ञान को कवि ने अविद्या, मोह आदि शब्दों द्वारा अभिहित किया है।

अज्ञान जन्म-मरण का कारण है। यह अज्ञान ही मानव को जन्म-मरण के चक्र में फंसा कर जन्म- जन्मान्तर तक कष्ट देता है।

यह अविद्या ज्यों ही मनुष्य को वासनाओं से ग्रस्त पाती है, त्यों ही बलात् उसमें प्रवेश कर लेती है और दया शून्या दुष्टा राक्षसी की भांति अनेक जन्म-मरण रूपी गर्त्तों में धकेल कर कष्ट देती रहती है[3]।

इस अज्ञान के द्वारा जन्म-मरण के फेरे में पड़ा मानव कभी घोर नरक में दुःख भोगने के लिए भेज दिया जाता है और कभी अचानक देवताओं के पवित्र स्थान स्वर्ग में। इस प्रकार उसकी दशा उस गेंद की तरह हो जाती है जो एक बार खिलाड़ी के द्वारा फेंके जाने पर ऊपर जाती है, फिर नीचे गिरती है। पुनः पैर की ठोकर खाकर ऊपर उठती है। इस प्रकार अज्ञान में फँसे मानव को कितनी बार जन्म लेना पड़े और मरना पडे, इसकी कोई सीमा नहीं[4]।

अज्ञानी मनुष्य के मन में विवेक का सञ्चार उसी प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार श्रेष्ठ द्विज चण्डाल के घर में स्वप्न में भी जाना पसन्द नहीं करता। और यदि कभी विवेक आ भी जाए तो शीशे पर पड़े मोती के समान रोकने पर भी नहीं रुकता[5]।

---

1. तन्त्रालोक = (जयरथकृत टीका सहित) 1.22.
2. भारतीय दर्शन- श्री सतीश चन्द्र एवं श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त रचित (श्री हरिमोहन झा एवं श्री नित्यानन्द द्वारा अनुदित), पृ० 97.
3. मां राक्षसीव बहु नाथ तुदत्यविद्या। - दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 3.
4. मोहेन कन्दुकदशामिव नीयमानः, वही, पद्य = 4.
5. ....विशति नैव मनो विवेकः स्वप्नेऽपि पक्वणमिव प्रवरो द्विजानाम्। वही, पद्य = 5.

यह अज्ञाननिद्रा कुम्भकर्ण की नींद से भी गहरी है, जो निरन्तर प्रभूत शास्त्र श्रवणरूप तुरही (वाद्य यन्त्र विशेष) से भी शान्त नहीं होती[1]।

4. कर्म तथा कर्मफल

भारत के प्रायः सभी दर्शन कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। कर्मवाद के अनुसार हमारा वर्तमान जीवन अतीत के कर्मों के अनुसार चलता है और हमारा भविष्य जीवन वर्तमान के कर्मों के अनुरूप होगा। मनुष्य जो कर्म करता है उसका फल नष्ट नहीं होता और बिना किये कर्म का उसे फल नहीं मिलता। डेनमार्क के प्रसिद्ध दार्शनिक 'हेराल्डहेफडिंग ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि-"मनुष्य के अच्छे या बुरे कर्मों का फल नष्ट नहीं होता, ऐसे विधान में विश्वास का नाम ही धर्म है"[2]।

कवि लोष्टक भी कर्मवाद के इस सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं हैं। उनका भी यही मत है कि यदि हम अच्छे कर्म करेंगे तो उनका अच्छा फल भी हमें ही मिलेगा और यदि बुरे कर्म करेंगे तो उसका फल भी हमें ही भोगना पड़ेगा। यही कारण है कि स्तोत्र में बुरे कर्मों के प्रति घृणा व्यक्त कर अपनी अनास्था दिखाकर पाठकों को इसे न करने की शिक्षा कवि ने दी है:—

मातृगर्भ में रहता हुआ बालक वहाँ के कष्ट से पीड़ित होकर भगवान् से यह प्रतिज्ञा करता है कि अब की बार गर्भ से निकलने पर वह पुनर्जन्म के विनाश के लिए ईश्वर भजन आदि शुभ कर्मों में मन लगाएगा; पर ज्यों ही वह गर्भ से निकलता है तो अनेक कुकर्मों के संयोग से अत्यन्त मूढ दशा को प्राप्त हो जाता है, जिस के कारण वह कोई शुभ कर्म नहीं कर पाता[3]।

इसके बाद जब वह युवावस्था को प्राप्त कर लेता है तो अनेक प्रकार की शृङ्गारिक चेष्टाओं के द्वारा अविवेक का सञ्चय कर घोर नरक में ले जाने के लिए कारण बनने वाले बुरे कर्मों के संयोग से इहलोक तथा परलोक दोनों की पवित्रता को नष्ट कर डालता है जिससे उसे न इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में उस की सद्गति होती है[4]। सांसारिक-सम्बन्धियों की असारता

1. अनवरतश्रुतभूरिशास्त्रस्वनैरपि न शाम्यति मोहनिद्रा । - दीनाक्र० स्तो०; पद्य = 47.
2. देखिए, भातीय दर्शन, श्री सतीशचन्द्र एवं श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त रचित, (श्री हरिमोहन झा एवं श्री नित्यानन्द मिश्र द्वारा अनुदित) के द्वितीय संस्करण का पृ० = 10.
3. पुनरुद्भवभङ्गहेतोः -चेतो विधास्य इति चाकरवं प्रतिज्ञाम् ।-दीनाक्र०, स्तो० पद्य = 7, 8.
4. प्रशमितोभयलोकशुद्धिः -दीनाक्र० स्तो० = 10.

मनुष्य जिन माता-पिता, बन्धुओं एवं मित्रों पर गर्व करता है, उनसे अपार प्रेम करता है, वे वास्तविक दुःख के समय साथ नहीं देते।

जब मानव कुकर्म के परिणाम स्वरूप दुःख भोगने के लिए नरक में जाता है, तब वहाँ बन्धु-बान्धव, माता-पिता मित्र कोई भी उसके कष्ट में धैर्य नहीं बंधा सकते[1] ।

दुःख- कष्ट के समय तात-मात, इस प्रकार का प्रलाप व्यर्थ है क्योंकि ये सब दुःख निवारण मे असमर्थ हैं[2] ।

5. मन की चञ्चलता

इन्द्रियों में मन श्रेष्ट है। मन का संयम न होने पर इन्द्रियाँ उच्छृङ्खल रहती हैं और किसी प्रकार के अनुशासन में नहीं रहतीं। यह मन ही मनुष्य के उत्कर्ष तथा अपकर्ष में कारण बनता है। आत्मज्योति से प्रकाशित विवेक बुद्धि द्वारा ज्ञानी जन भले ही इस को वशीभूत करन में समर्थ हो, परन्तु आध्यात्मज्ञान से विमुख सामान्य व्यक्ति के लिए इसे वश में करना कठिन है। क्योंकि प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी बलात् हर लेती हैं-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। -गीता 2/60.

मन की चञ्चलता के प्रसङ्ग में गीता में कृष्ण का कहना है कि--''विषयों में विचरती हुईं इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय मानव की बुद्धि का वैसे ही हरण कर लेती है जैसे जल में वायु नाव को विचलित कर देती है[3] । मन की चञ्चलता के विषय में कवि का भी यही विचार है। भव-बन्धन से मोक्ष पाने के अनेक साधनों जैसे दान, तप, आदि में से ईश्वर-भक्ति सर्वसुलभ तथा सरल उपाय है क्योंकि दान के लिए सब में सामर्ध्य नहीं होता, इसी प्रकार तप भी प्रयत्न साध्य है। परन्तु भक्ति भी तभी सम्भव है, जब मन एकाग्र हो—चञ्चल मन से भक्ति की सिद्धि नहीं होती।

कवि कहता है मानव का मन पारे के समान अति चञ्चल है। जिस प्रकार

1. नो यत्र बन्धुरथ पिता न माता
नो वा सुहृद् धृतिमुपेत्य विधातुमीष्टे ।-दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 18.
2. आर्तिक्षणे सपदि विस्मर तात मातः- वही, पद्य = 33.
3. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसा।। -गीता 2/67.

पारा किसी एक स्थान में नहीं टिकता, उसी प्रकार विषयों में विचरण करने वाला मन भी अस्थिर है- अति चञ्चल है[1]।

6. भव-बन्धन से छूटने का मार्ग

शिव की स्तुति के प्रसङ्ग में कवि ने उन उपायों की ओर भी सङ्केत किया है, जिनके अनुसरण से संसारचक्र से मानव को मुक्ति मिल सकती है। कवि ने निम्न मार्गों की ओर सङ्केत दिया है:-

(क) "सज्जनोचित कार्य करने से मानव को भव बन्धन से छुटकारा मिल जाता है, इस बात की प्रतीति कवि द्वारा स्तोत्र के 13 वें पद्य में कहे गये वाक्य से हो जाती है- इष्ट जनों के वियोग से मैंने स्त्रियों की तरह विलाप तो किया पर सज्जनोचित कर्म नहीं किए, अतः मैं अभागा हूँ।

सच्चरित्रों से भ्रष्ट मानव ही यमराज के भय से त्रस्त होता है। यदि उसने सत्कर्म किए हों तो यमराज के भय से दुःखी होने की क्या आवश्यकता है[2]।

दान, तप, समाधि से भी सद्गति होती है[3]।

(ख) दीन जनों का पोषण, गुरु सेवा, सत्कार्य में अनुराग ये सब कर्म भी संसारचक्र से छुटकारा दिलाने वाले हैं।

(ग) शिव में श्रद्धा तथा उनकी भक्ति भी बन्धन से मुक्त करने में समर्थ है-

शिव पुराण के अनुसार शिव में भक्ति-भावना मनुष्य को मुक्त कर देती है।[4] और सर्वज्ञ ईश्वर शिव का दर्शन भी भक्ति से ही सम्भव है[5]।

कवि ने स्तोत्र के कई पद्यों में इस ओर सङ्केत किया है-

---

1. चित्तं न पारदमिव क्षणमुज्झतीदं चाञ्चल्यविप्लवम् .. ..। -दीनाक्र० स्तो० पद्य = 45.
2. वही, पद्य = 14
3. नासेवि तीर्थदिगसाध्यतरः समाधिः ।-वही, पद्य = 22; नादापि दानमथ नैव तपो व्यधायि। -वही, 22.
4. बहुनात्र किमुक्तेन शिवे भक्त्या विमुच्यते। -शिव पु., 1, 3, 14.
5. एष देवो महादेवः सर्वज्ञो जगदीश्वरः।। अयं तु परया भक्त्या दृश्यते नान्यथा क्वचित्।। -वही, 1, 3, 12.

संसार-रोग (बन्धन) से विह्वल मनुष्य की पीडा का निदान औषधियों के स्वामी (चन्द्र) को शिर पर धारण करने वाले शिव ही कर सकते हैं[1]।

जिन नरकों में जाकर माता-पिता बान्धव, मित्र कोई भी मनुष्य को धैर्य बंधाने में समर्थ नहीं होता वहां दयार्द्रचेता शिव ही शरणार्थी की रक्षा करने में समर्थ हैं[2]।

सच्चरित्र से भ्रष्ट व्यक्ति जब यमराज के भय से उनकी शरण में चला जाता है, तब शिव उस में अच्छे-बुरे का विचार नहीं करते उसका परित्राण करते हैं[3]।

अन्धकार से व्याप्त, सततप्रदीप्त अग्नियों से युक्त नरक में शिव को छोड़कर अन्य कौन शरण हो सकता है। क्योंकि वे तेजोमय त्रिनेत्रधारी (सूर्य-चन्द्र एवं अग्नि को धारण करने वाले) हैं, अतः अन्धकार से भी रक्षा करने में समर्थ हैं और सिर पर देवगङ्गा को धारण करने के कारण अग्नि के सन्ताप से भी रक्षा करते हैं[4]।

यौवन काल में जब इन्द्रियां शक्तिपूर्ण होती हैं। तो वे सांसारिक विषयों की ओर उन्मुख रहती हैं और जब इनकी शक्ति नष्ट हो जाती है तो ईश्वर भजन भी नहीं हो पाता। इसप्रकार जब जन्म निष्फल हो जाता है तो एकमात्र शिव ही शरण्य हैं[5]।

पुण्यज्ञान के अभाव में जब मानव दान, तप, समाधि आदि कोई भी शुभ कर्म नहीं कर पाता तब शिव का स्मरण ही रक्षक है[6]।

संसार में मनुष्य-योनि में जन्म पाना अति दुर्लभ है। इस योनि में जन्म पूर्वजन्म के प्रभूत शुभकर्मों के प्रभाव से होता है। यदि उसे पाकर भी मनुष्य ईश्वर (शिव) की भक्ति-सुख का अनुभव न करे तो मानव जन्म वृथा है[7]।

---

1. त्वामोषधिपतिभृतं सुकृतैरवाप्य,
   आवेदयामि यदहं तव तन्निदानम् ।- दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 2.
2. त्राणं त्वमेव हि जगत्सु दयार्द्रचेताः ।-वही, पद्य = 18.
3. नो साधवो विदधते सदसद्विवेकम् ।- वही, पद्य = 19.
4. धामात्रयीनयन निर्जरसिन्धुमूर्धस्त्वत्तेतरस्त्वमिव कः शरणं नराणाम् ।।- वही, पद्य = 20.
5. वही, पद्य = 21.
6. वही, पद्य = 22.
7. जातं वृथैव मम यत्र मुहुः कदापि।
   नैवान्वभावि भवदर्चनभक्तिसौख्यम् ।।- वही, पद्य = 24.

मानव-शरीर पाकर यदि स्मरण, भजन-कीर्तन आदि किसी भी प्रकार से ईश्वर के काम न आया तो उसे धिक्कार है। कवि कहता है ऐसे मानवीय शरीर से तो बैल और सर्पों का शरीर श्रेष्ट है जो शिव के वाहन और भूषण के लिए काम तो आते हैं[1]।

दुःख के समय सब कुछ भुलाकर शर्व! शङ्कर! शिव! इस प्रकार शिव की स्तुति करने से सम्पूर्ण दुःखों का क्षय हो जाता है[2]।

शिव-भक्ति के विना संसार का संकट दूर नहीं हो सकता[3]।

शिव पापियों के पाप का विनाश करते हैं, डरे हुओं को अभय दान देते हैं और इन दोनों के उद्धार के लिए हमेशा तैयार रहते हैं[4]।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कवि की शिव में अपार निष्ठा थी।

7. कवि का इष्टदेव-शिव

कवि लोष्टक शिव के मूर्त-रूप का उपासक प्रतीत होता है, क्योंकि कवि द्वारा की गई स्तुति में हमें कई स्थलों में शिव के साकार-रूप से परिचय प्राप्त करने की सामग्री उपलब्ध होती है। स्तोत्र में जिन विशेषणों और सम्बोधनों से कवि ने शिव से कृपा की याचना की है, उनके अनुसार शिव का बाह्य स्वरूप निम्न प्रकार का है:-

1. शिव सिर में चन्द्रमा को धारण करते हैं[5]।
2. वे तेजोमय तीन नेत्रों वाले है[6]।
3. देवगङ्गा उनके सिर पर रहती है[7]।

---

1. मानुष्यकं तु मम धिक्कलया कयापि यन्नोपयोगमगमत्त्वयिगमच्छरीरम्। - दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 25.
2. शर्वेश शङ्कर शिवेति नुतिं भजस्व। - वही, पद्य = 33.
3. कस्तां विना च भवघोर विपद्विनाशः। - वही, पद्य = 45.
4. अहं पापी पापक्षपणनिपुणः शङ्कर भवान्.......। - वही, पद्य = 49.
5. वही, पद्य-2, 15.
6. वही, पद्य = 20.
7. वही, पद्य = 20.
8. वही, पद्य = 25, 44.

4. बैल उनका वाहन और सर्प गले का भूषण है[1]।

5. दिशाएँ उनके वस्त्र हैं अर्थात् वे नग्न रहने वाले हैं और मनुष्यों के अखण्ड मुण्ड (सिरों) को धारण करते हैं।

6. खून से गीले चर्म उनके वस्त्र हैं, महा श्मशान उनका निवास स्थल है, हड्डियां भूषण हैं और सर्प कङ्कण है तथा राक्षस और पिशाच उनके सचिव हैं[2]।

7. वे श्रीकण्ठ हैं[3]।

8. कवि द्वारा शिव के लिए प्रयुक्त अन्योन्य सम्बोधन तथा विशेषण

सम्बोधन	पद्य
शिव	1
मृड	2
नाथ	3
स्वामिन्	4
विश्वेश	5
ईश	6
अध्वनाथ	8
परमेश्वर	9
भगवन्	14
शिरसीन्दुमौले	15
शङ्कर	17
धामत्रेयीनयन; निर्जरसिन्धुमूर्धन्	20
महेश्वर	25
हर	27
शर्व	33

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 28.
2. वही, पद्य = 27.
3. वही; पद्य = 34.

श्रीकण्ठ	34
फणीन्द्रहार	44
भव	38
शम्भो	43
प्रभो	45
गिरिश	50
श्रीविश्वेश्वर	53
धूर्जटे	54

9. शिव के विशेषण

ओषधिपतिभृत्	2
दयार्द्रचेताः	18
पापक्षपणनिपुण	26
युगान्तनिशाचर	27
दिगम्बरम्	28
अखण्डनृमुण्डचूडम्	28
पापक्षपणनिपुण	49
भीताभयवितरणे व्यसनिन्	
दीनोद्धरणविधिसज्ज	49
पशुपति	51

10. कवि की दीनता, करुण-क्रन्दन और शिव को उपालम्भ

कवि ने स्तोत्र में अपने हृदय की दीनता एवं सरलता और शिव की दयार्द्रता एवं उदारता का जो परिचय दिया है, वह सुन्दर बन पड़ा है।

उसका भक्ति-पूरित हृदय बच्चे के हृदय समान है, जो कभी प्रसन्न होता है और कभी दुःखी होकर क्रन्दन करने लगता है।

सांसारिक विषयों के उपभोग से श्रान्त हुआ वह कभी शिव से उनके चरणों की छाया की याचना करने लगता है[1], कभी शिव के उदात्त गुणों का वर्णन करता हुआ मुग्ध होता है[2] और फिर कभी अचानक अपने पूर्व कृत

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 1.
2. वही, पद्य = 49.

दुष्कर्मों का स्मरण करके भयभीत और लज्जित हो जाता है[1], और कभी उसकी भक्ति इतनीदृढ हो जाती है कि वह शिव को उलाहना तक देने लगता है[2]।

(क) कवि की दीनता एवं करुण क्रन्दन

जन्म और मरण के चक्र में फँसे कवि की दीन पुकार देखिए-हे ईश्वर! मोह के कारण मै गेंद की तरह कभी घोर नरक में गिरता हूँ, कभी देवताओं के पवित्र स्थान स्वर्ग में आरोहण करता हूँ। इस प्रकार कब तक जन्म-मरण को सहता रहूँ?[3]

सांसारिक दुःखों से पीडित कवि का दीनतापूर्ण क्रन्दन कितना तर्क पूर्ण है:-

हे शिव! संसार रूपी कठिन रोग से अत्यन्त सन्त्रस्त मुझ पर दया कीजिए। आप ओषधिपति चन्द्र को धारण करने वाले (वैद्येश) हैं, अतः आपके अतिरिक्त कौन इस रोग का निदान कर सकता है[4]?

अपने अशुभ कर्मों के कारण सन्त्रस्त और निराश कवि की यह उक्ति कितनी स्वाभाविक है–

हे शिव! मैं डरा हूँ, अभागा हूँ, पीडित हूँ, तो इस प्रकार किस-किस दृष्टि से आप की कृपा का पात्र नहीं हूँ ? ऐसा समझ कर जैसा उचित समझें वैसा कीजिए[5]।

कवि की अपनी दीनता तथा शिव की सज्जनता से संवलित यह कथन कितना मनोहर है-

यद्यपि मैं सच्चरित्र से भ्रष्ट हूँ, फिर भी आपको मुझ दीन की रक्षा आवश्य करनी चाहिए। क्योंकि व्याकुल होकर शरण में आये दीनों के विषय में सज्जन लोग अच्छे-बुरे का विचार नहीं करते[6]।

शक्ति क्षीण होने पर ईश्वर भजन में असमर्थ इन्द्रियों के कारण दुःखी कवि

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 9, 40, 48.
2. वही, पद्य = 35.
3. वही, पद्य = 4.
4. वही, पद्य = 2.
5. वही, पद्य = 17.
6. वही, पद्य = 19.

की निम्न उक्ति शिव-स्तुति के साथ-साथ हमें यह शिक्षा भी दे रही है कि भजन भी शक्तिपूर्ण इन्द्रियों से ही सम्भव है, अतः यौवन में ही भक्ति कर लेनी चाहिए:–

हे ईश! यौवन में जब मेरा इन्द्रियसमूह तीव्र शक्तिमान् था तो वह विषयों के भोग में आसक्त रहा और आज जब इन्द्रियों की शक्ति विनष्ट हो गई है तो आपका भजन कैसे करूँगा ? मेरा जन्म निष्फल है, मैं क्या करूँ?[1]

मृत्यु भय से व्याकुल कवि द्वारा शिव को किया गया यह निवेदन कितना हृदयावर्जक है:-

हे नाथ स्वस्थ अवस्था में अहङ्कार के कारण विवेक शून्य मैंने निर्भीक होकर न जाने कितने दुराचरण किए पर आज मृत्यु भय के स्मरण से इतना व्याकुल हो गया हूँ कि खाना भी नहीं खा सकता[2]।

यमराज की सेनाओं की टेड़ी भौहों और नरक-पीडा के स्मरण से विह्वल-चित्त कवि का यह क्रन्दन कितना मार्मिक है:-

हे शिव! नरक भूमियों में जहां यमदूतों की भृकुटियों का विकार और जो नई-नई पीडाएँ हैं, उन में प्रवेश करते हुए मेरी क्या दशा होगी ? मैं कहां जाऊँ? मेरा कौन रक्षक है?[3]

यमराज की सेनाओं की हुंकारों के स्मरण से ही भय से व्याकुल मैं मूर्च्छित ही रहा हूँ- मर रहा हूँ। यह कष्ट निकट ही है। हा कुकर्मों में संलग्न मेरी आगे क्या गति होगी?[4]

पाप से पीडित असहाय कवि का यह करुणक्रन्दन सुनिए–

सेकड़ों पापों से पीडित मैं अन्य किसी रक्षक को न पाकर आपके सामने क्रन्दन कर रहा हूँ। अतः शीघ्र कहीं से आकर मुझ पर दया क्यों नहीं करते ? हे विश्वव्यापी शिव मुझ दीन को आस्वासन दीजिए[5]।

भक्त कवि अपने किये पापों को शिव से नहीं छुपाता, अपने स्वामी के सामने हृदय खोलने में किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं करता।

---

1. दीनाक्र० स्तो० पद्य = 21
2. वही, पद्य = 34
3. वही, पद्य = 39.
4. वही, पद्य = 40.
5. वही, पद्य = 41.

कवि के ही शब्दों में देखिए–

कृत्वा पापमसावपोष्यत निजः कायो न दीनो जनो-
वैवश्याल्लुठितं चिरं चरणयोः स्त्रीणां गुरूणां न तु।
लोभोऽकारि मया धने न सुकृते तेनानुतप्ये मह-
त्किं शक्यं मम तत्र कर्तुमधुना नाथ त्वमेका गतिः।।[1]

(ख) कवि का शिव को उपालम्भ

बालक जैसे अपनी मन पसन्द चीज न मिलने पर कभी हाथ पैर पटक कर क्रन्दन करता है, कभी अपनी गलती पर डरता है और कभी माँ को उलाहना देता है, वैसे ही भक्त भी अपने इष्टदेव के प्रति उवालम्भ देने लगता है।

अपने जिस इष्ट-देव की वह मुक्तकण्ठ से स्तुति करता है, उसी को वह भक्ति-विभोर होकर उपालम्भ भी दे देता है। यह उसके प्रगाढ भक्भिाव का ही परिणाम है।

दृष्टान्त के द्वारा शिव को उपालम्भ देने वाले कवि की यह उक्ति कितनी बेजोड़ हैः-

मैंने पहले कभी आप की सेवा नहीं की तो क्या शरण में आये हुए मुझ दीन पर दया नहीं करेगें ? अपने नीचे (छाया में) आने वाले व्यक्ति की थकावट को पूर्व अपरिचित होने पर क्या वृक्ष दूर नहीं करता ?[2]

निरन्तर की विपत्ति से ऊब कर शिव की शरण चाहने वाले कवि का यह कथन देखिए–

निरन्तर मेरे सङ्कट को जानते हुए भी आप दयालु मेरी उपेक्षा

क्यों कर रहे हैं ? सारी शङ्काओं को छोडकर शिव! शिव! का उच्चारण करने वाले मेरे प्रलाप को क्या आप नहीं देख रहे हैं[3]।

वह अपने स्वामी से मृत्यु से अभयदान की याचना नहीं करता, न ही किसी लौकिक ऐश्वर्य की कामना करता है। वह तो अपने सेव्य देवता के दर्शन

---

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 48.
2. वही, पद्य = 35.
3. वही, पद्य = 26.

का प्यासा है। यदि वह भी उस के लिए दुर्लभ हो तो उस के लिए बड़ी दुःख की बात है:-

(श्वेत नामक राजा की तरह) न मैं मृत्यु से डरता हूँ, न (मरुत्त राज के समान) सुवर्ण की ही अभिलाषा करता हूँ, न (मुनि कुमार उपमन्यु की भांति) बालकपन के कारण दुग्ध पान का इच्छुक हूँ। मैं तो केवल आपके दर्शन की अभिलाषा करता हूँ, क्या मेरी इतनी सी अभिलाषा भी पूरी नहीं करोगे ?[1]

सचमुच कितने सुन्दर भाव हैं कवि की इन उक्तियों में।

11. कवि द्वारा अपने लिए प्रयुक्त विशेषण

विशेषण	पद्य
अविलुप्ततृष्णः	1
श्रान्तः	1
दुर्वारसंसृतिरुजा भृशकांदिशीकः	2
गुणिताविवेकः	10
विक्लवमानसेन	12
विषादवशंवदेन	13
कृपणस्य	15
भीतः	17
दुर्गततमः	17
कदर्थितः	17
पापः	17
अनवाप्तपुण्यज्ञानस्य	22
कांदिशोकमनसः	31
आहतसर्वशक्तिः	32
विह्वलः	34
अधन्यम्	37

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य 23.

मोहितधिया	38
कुकर्मनिमग्नवृत्तेः	40
आसन्नपापशतसंभृतघोरपीडः	41
वराकम्	41
अयुक्तिविदः	45
अनुद्गतविवेकलवः	46
अकृतात्मा	46
विगतप्रबोधम्	47
पापी	49
भीतः	49
दीनः	49
कृतिनः	52

चतुर्थ अध्याय
भाव एवं कला पक्ष

(क) भाव पक्ष

भक्तिरस तथा दीनाक्रन्दनस्तोत्र में इसका स्थान''

प्राचीन अलङ्कारशास्त्रियों ने भक्ति को रस रूप में पृथक् स्वीकार नहीं किया है। भरतमुनि ने शृङ्गारादि नौ रसों में भक्तिकी गणना नहीं की है[1] । भामह और दण्डी ने भी इसे स्वीकृति नहीं दी। इन दोनों आचार्यों ने भक्ति को प्रेय अलङ्कार में अन्तर्भूत किया है[2]। मम्मट भक्ति को भाव मानते हैं।[3] इन्हीं के अनुसरण में विश्वनाथ ने भी इसे भाव ही माना है[4]। परन्तु इसके विपरीत आधुनिक मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्य भक्ति को रस के रूप में स्वीकार करते हैं। मधुसूदन सरस्वती के मत में भक्ति रस ही सर्वोच्च एवं परमार्थिक है,

---

1. शृङ्गारहास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः।
   बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः।। -नाट्यशा०, 6, 15-16.
2. (क) प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
   अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।।
   कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।। -काव्यालं०, 3, 5.
   .(ख) प्रेयः प्रियतराख्यानम् . . . . .
   अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
   काले नैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।। -काव्याद० 2, 275-276.
3. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
   भावः प्रोक्त . . . .।। -काव्यप्र० 4, 35.
4. सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
   उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।। -साहित्यद०-3, 260-261.

क्योंकि इस में दुःख का सर्वथा अभाव रहता है और पूर्ण सुख का अनुभव होता है। शृङ्गारादि रस इसकी तुलना में तुच्छ हैं[1]।

दीनाक्रन्दन स्तोत्र का प्रधान विषय शिव-स्तुति है। जिस में कवि ने अपनी दृढ़ भक्ति-भावना को अभिव्यक्त किया है। अतः यहाँ भक्ति रस एवं उसके प्रमुख भेदों का संक्षेप में वर्णन अपेक्षित है। डॉ० वी० राघवन् ने "दि नम्बर आफ रसज़[2]" में भक्ति रस के विषय में अनेक आचार्यों के मतों का सङ्कलन किया है। उन्हीं को आधार मानकर यहाँ भक्ति के स्वरूप, भेद आदि पर संक्षेप में चर्चा की जा रही है।

भक्ति शब्द 'भज् सेवायाम्' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्[3]' इस सुत्र से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर बना है। इस प्रकार भक्ति शब्द के व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ में सेवाभाव की ही प्रधानता है।

मधुसूदन सरस्वती 'भक्ति' शब्द की व्याख्या नये ढंग से करते हैं। उनके अनुसार अन्तःकरण का ईश्वर के आकार का ग्रहण ही भक्ति है[4]। इन्होंने भक्ति रस की निष्पत्ति निम्नोक्त रूप में की है:-"सकलविषयविमुखमनसः महाभागस्य कस्यचित् भगवद्गुणगरिमग्रन्थनरूपग्रन्थश्रवणजनितद्रुतिरूपायां मनोवृत्तौ सर्वसाधनफलभूतायां गृहीतभगवदाकारायां विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेन रसरूपतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः इति।

विभावो द्विविधः- आलम्बनविभावः उद्दीपनविभावश्च। तत्र आलम्बनविभावो भगवान्, उद्दीपनविभावः तुलसीचंदनादिः अनुभावो नेत्रविक्रियादि; व्यभिचारिणो भावाः निर्वेदादयः, व्यक्तीभवद्भगवदाकारतारूपरसाख्यः स्थायिभावः परमानन्द-साक्षात्कारात्मकः प्रादुर्भवति, स एव भक्तियोग इति, तं परमं निरतिशयं पुरुषार्थं वदन्ति रसज्ञाः[5]"।

भक्तिरस के भेद

'भक्तिरसामृत सिन्धु' में रूप गोस्वामी ने भक्तिरस के

1. कान्तादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्।
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्गतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।। भगवद्भक्तिरसायनम्, 3.
2. दि नम्बर आफ रसज़- डा० वी० राघवन्, पृ० = 129-137.
3. अष्टाध्यायी, 3.3.94.
4. भगवद्भक्तिरसायन, 1, 3.
5. वही, पृ० = 4.

(क) मुख्य और (2) गौण- दो भेद किये हैं।

(क) पुनः मुख्य भक्ति के निम्न पाँच भेद किये हैं:-

1. शान्त, 2. प्रीति, 3. प्रेयान्, 4. वत्सल और 5. मधुर।

(ख) गौणभक्ति के निम्न सात भेद हैं:-

1. हास्य, 2. अद्भुत, 3. वीर, 4. करुण, 5. रौद्र, 6. भयानक, और 7. बीभत्स।[1]

कविराज श्रीकृष्ण ने श्रीकृष्णभक्ति के पांच मुख्य भेद और सात गौण भेद माने हैं[2]। (क) मुख्य भेद, (ख) गौण भेद।

(क) मुख्य भेद

1. शान्त, 2. दास्य, 3. सख्य, 4. वात्सल्य, और 5. मधुर।

(ख) गौण भेद

1. हास्य, 2. अद्भुत, 3. वीर, 4. करुण, 5. रौद्र, 6. भयानक और 7. बीभत्स।

भक्ति के इन भेद, उपभेदों में से श्री कृष्ण द्वारा मान्य पांच मुख रसों का यहाँ क्रमशः संक्षिप्त विरण दिया जा रहा है-

(1) शान्त भक्ति रस

शान्त भक्तिरस का स्थायिभाव शान्त रति है। इसमें ध्यान की प्रधानता रहती है। इसमें भक्त अपने इष्टदेव कृष्ण आदि को परमात्मा या परब्रह्म के रूप में ध्यान करते हैं। निर्मल चित्त वाले योगियों में ही यह रति उत्पन्न होती है।

(2) दास्य भक्ति रस

इसका स्थायिभाव दास्यरति है। जब भक्त अपने इष्ट देव को सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त समझ कर उसको सेव्य और अपने को सेवक समझते हैं तो यह रति होती है।

(3) सख्य भक्तिरस

सख्यरति इसका स्थायिभाव है। यह रति भक्त में तब उत्पन्न होती है,

1. भक्तिरसा., दक्षिणविभाग, पंचमलहरी, 95-98, पृ० = 305-306.
2. चैतन्यचरितामृत, मध्य०, 19, पृ० = 213.

जब उसका अपने आराध्य-देव में मित्रभाव या समानता का भाव पैदा होता है। ग्वालों का श्रीकृष्ण के साथ व्यवहार ऐसा ही था।

(4) वात्सल्य भक्ति रस

इसका स्थायिभाव 'वात्सल्यरति' है। ममत्वबुद्धि के कारण जब भक्त कृष्णादि देवों को अपना पुत्र मानकर उसके प्रति पितृ-तुल्य अनुराग प्रकट करते हैं तो भक्तों के हृदयस्थित वह अनुराग वात्सल्यरति कहा जाता है। यशोदा का कृष्ण के प्रति ऐसा ही अनुराग था।

(5) मधुर भक्ति रस

इसका स्थायिभाव मधुर रति है। इसमें भक्तों का कृष्णादि देवों के साथ पति-पत्नी तुल्य सम्बन्ध होता है। गोपियों का कृष्ण के साथ यही सम्बन्ध है।

दीनाक्रन्दनस्तोत्र में दास्य भक्ति रस की प्रधानता है

इस स्तोत्र में दास्य भक्ति के उपर्युक्त लक्षण के अनुरूप कवि शिव को सम्पूर्ण कष्टों से निवारण करने में समर्थ एवं ऐश्वर्य सम्पन्न समझ कर उसकी भक्ति करता है और शिव को सेव्य तथा स्वयं को सेवक मानता है।

उदाहरणतया

इत्थं न किं व्यवहृतं न किमुक्तमात्तं
किं घ्रान्न किं न कलितं ललितं न वापि।
सर्वत्र तत्र शरणं कृपणस्य मे त्व-
मेह्येहि देहि चरणं शिरसीन्दुमौले।[1]

इस पद्य में शिव आलम्बन विभाव हैं, उनके सिर पर स्थित चन्द्रमा उद्दीपन विभाव है। कवि को अपने कर्मों पर दुःख होने से निर्वेद सञ्चारी भाव है। इन सब के द्वारा कवि-निष्ट शिव विषयक दास्यरतिभाव दास्यभक्तिरस के रूप में परिणत हो रहा है।

इसके साथ ही स्त्रोत के कुछ पद्यों में जहाँ यमराज, यमदूत एवं नरकवर्णन है, वहाँ भय स्थायी भाव है, परन्तु वह प्रधानरस भक्ति को विच्छिन्न नहीं करता। यहाँ भय का प्रयोग भक्ति की पुष्टि करता है। इस प्रकार दीनाक्रन्दनस्तोत्र में भक्ति रस का प्रधान एवं अन्य रसों का गौण स्थान है।

1. दीनाक्र. स्तो. पद्य. 15

(ख) कला पक्ष

भाषा शैली

दीनाक्रन्दनस्तोत्र की भाषा अत्यन्त सरल तथा मधुर है। शब्दचयन भावानुकूल बन पड़ा है। दीनता की अभिव्यक्ति के लिए कोमल पदावली का प्रयोग स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक है। सम्पूर्ण स्तोत्र में क्लिष्टता एवं दूरान्वय का प्रायः अभाव है। यद्यपि स्तोत्र के कुछ पद्यांशों में से दूरान्वय दोष ढूंढा जा सकता है[1] परन्तु उसका प्रयोग केवल अपवाद रूप में है। कवि ने स्तोत्र में वैदर्भी रीति तथा माधुर्यगुण का समावेश किया है। वैदर्भी रीति के समस्त गुण-मधुर शब्दों का चयन, ललित पदों की योजना, समास का सर्वथा अभाव या अल्पसमास युक्त पदों का प्रयोग[2] स्तोत्र में उपलब्ध होते हैं।

यत्रेन्द्रियाणि विरमन्ति निजक्रियाभ्यो,
यात्यान्तरोऽपि करणप्रसरोऽवसादम्।
प्राणास्त्रुटन्ति च समस्तनिराशभूतं
मामेत्य शङ्कर कुतोऽपि तदा दयेथाः।।[3]

इस पद्य में न्द, न्त, ङ, क, आदि वर्णों का संयोग एवं 'ण' और 'र' का प्रयोग तथा छोटे-छोटे समासों वाली मधुर रचना ये सब माधुर्य गुण के व्यञ्जक हैं। माधुर्य एवं प्रसादगुणोपेत उपर्युक्त पद्य वैदर्भी रीति के लक्षण के अनुरूप है।

समास शून्य कोमल पदावली से युक्त एक और पद्य देखिए–

नो यत्र बन्धुरथ नैव पिता न माता
नो वा सुहृद्गतिमुपेत्य विधातुमीष्टे।
तास्वेत्य नाथ नरकभूषु कुर्या–
स्त्राणं त्वमेव हि जगत्सु दयार्द्रचेताः।।[4]

कैसी सरल तथा मधुर पदावाली है पढ़ते ही पाठकों को अर्थबोध हो जाता है।

1. दीनक्र० स्तो०, पद्य 32, 38, 39.
2. माधुर्यव्यञ्जकै वर्णै रचना ललितात्मिका।
   अवृत्तिरल्पवृत्ति र्वा वैदर्भी रीतिरीष्यते।। -सा० द०, 5.2
3. दीनाक्र० स्तो०, पद्य 30
4. वही, पद्य 18

इसके साथ ही प्रसङ्गानुरूप कहीं-कहीं ओज गुण तथा गौडी रीति का प्रयोग भी उपलब्ध होता है, जैसे–

"रूपं दिगम्बरमखण्डनृमुण्डचूडम्"।[1]

इसमें संयुक्त अक्षर 'ण ड', और 'ड' वर्ण का प्रयोग, समास एवं खण्ड, मुण्ड, चूड इन कठोर ध्वनियों का प्रयोग सभी गौडी रीति की रचना कर रहे हैं। यह पद्यांश शिव के भयानक रूप के वर्णन प्रसङ्ग में है। यहाँ पर इन कर्कश संयुक्ताक्षर इस लिए नहीं खटकते क्योकि ये भावानुरूप हैं। लेकिन इस शैली का प्रयोग कवि ने कुछ ही पद्यांशों में किया है, अधिकांश स्थलों पर प्रसन्न पदावाली का ही प्रयोग मिलता है।

उदाहरणार्थ–

कालान्न मे भयमथो कनके न लिप्सा
नैवास्मि शैशववशेन पयः पिपासुः।
त्वद्दर्शनाय तु शिव स्पृहयामि लोभा–
त्त्रापि किं तव न वा सुकरः प्रकारः।।[2]

पूरा स्तोत्र ऐसे ही सरस, सरल तथा कोमल शब्दों से भरा पड़ा है।

शब्दचयन

स्तोत्र में शब्दचयन की विलक्षणता भी दर्शनीय है। कवि की दृष्टि से कोई भी दो शब्द मूलतः परस्पर पर्याय वाचक नहीं हैं, क्योंकि प्रसङ्ग के अनुसार उनके लक्ष्यार्थ या व्यङ्ग्यार्थ बदल जाते हैं। संस्कृत में हर, भव, निर्जरसिन्धुमूर्धा, शिव, चन्द्रमौली आदि शब्द शिव के वाचक हैं और पर्याय वाचक समझे जाते हैं किन्तु लोष्टक के लिए वे वैसे नहीं हैं। इसीलिए उसने उनका प्रयोग प्रसङ्ग के अनुसार बदल कर किया है- जब वह अन्धकार से और निरन्तर जलने वाली अग्नियों से व्याप्त भूमि वाले नरक में अपनी रक्षा के लिए शिव का सम्बोधन करता है तो वह उसे शिव या अन्य शब्दों से न पुकार कर 'धामत्रयीनयन' और 'निर्जरसिन्धुमूर्धन्' आदि शब्दों के द्वारा सम्बोधन करता है। जिन से शिव की नरक से परित्राण क्षमता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।[3]

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 28.
2. वही, पद्य= 23
3. वही, पद्य= 20

जब वह अपने को संसार-रोग से पीडित कहता है तो वह शिव को ओषधीपतिभृत् (चन्द्र) कहता है[1]। जब वह स्वयं के लिए पापी, भीत, दीन आदि शब्दों का प्रयोग करता है तो वह शिव के लिए क्रमशः पापक्षपणनिपुण, भीताभयवितणव्यसन, दीनोद्धरणविधिसज्ज इन शब्दों का प्रयोग करता है[2]।

निम्न पद्य में क्रमशः विष्णु और शिव के रूप के वर्णन में प्रयुक्त शब्द अवलोकनीय हैं–

दिव्योत्तरीयभृति कौस्तुभरत्नभाजि
देवेऽपरे दधतु लुब्धधियोऽनुबन्धम्।
रूपं दिगम्बरमखण्डनृमुण्डचूडं
भावत्कमेव तु बतेश मम स्पृहायै[3]।।

यहां प्रथम चरण में कवि ने विष्णु के वैभवपूर्ण वर्णन के लिए उत्तरीय और कौस्तुभरत्न शब्दों का प्रयोग किया है। और तृतीय चरण में शिव के फकीरी रूप के लिए अखण्ड नृमुण्डचूड, दिगम्बर शब्दों का प्रयोग किया है। इस श्लोक को पढ़ते ही हमारे सामने दो भिन्न भिन्न चित्र-विष्णु के ऐश्वर्य सम्पन्न उज्ज्वल रूप और मनुष्य के पूरे सिर को गले में धारण करने वाले नग्न शिव का रूप आ जाते हैं।

अलङ्कारों का समावेश

सालङ्कारिता कवि शैली की एक प्रमुख विशेषता है। कवि ने अपनी कला-तूलिका के द्वारा विविध अलङ्कारों के वर्णो से अत्यत मनोहर सौन्दर्य-चित्रों की सृष्टि की है। कवि ने इस स्तोत्र में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग, परिकर, भाविक, विशेषोक्ति आदि अर्थालङ्कारों एवं शब्दालङ्कारों में अनुप्रास तथा वक्रोक्ति का सरस प्रयोग किया है। इन अलङ्कारों की छटा सचमुच अत्यन्त मनोहर है जो पाठकों के ह्रदय को ऊबने नहीं देती। ये अलङ्कार कहीं भी भावों को बोझिल नहीं बनाते बल्कि उनकी सरसता में सहायक बनते हैं। यहाँ कुछ प्रमुख अलङ्कारों के उदाहरणों को दिखाया जा रहा है।

---

1. दीनक्र० स्तो०, पद्य. 2.
2. वही, पद्य = 49.
3. वही, पद्य = 28.

(1) उपमा

कवि की उपमायें वर्णन में चमत्कार-उत्पादक एवं काव्य सौन्दर्य की श्रीवृद्धि करने वाली हैं। इन में नवीन कल्पनाओं की अद्भुतता दष्टिगोचर होती है। कवि ने इनमें उपमानों का चयन भौतिक जगत् के पशु-पक्षी[1], विभिन्न पदार्थ[2] एवं शास्त्रों[3] से किया है।

अपनी सन्तान के भरण-पोषण के लिए धन के नशे में डूबे धनिकों से याचना करने वाले व्यक्ति की दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

तत्पोषणाय विदुषापि मया समस्त–
मौचित्यमुज्झितवतात्तवता कुकृत्यम्।
द्वारि श्ववल्लडितमेव कदीश्वराणां
सोढावमानशतविक्लवमानसेन।।[4]

इस पद्य में उपमा कितनी सजीव है, क्योंकि हम व्यवहार में भी देखते हैं कि अपने बच्चों के लिए निर्धन लोग धनिकों का आश्रय लेते हैं, परन्तु बदले में केवल अपमान पाकर लौटते हैं। ऐसे व्यक्ति की दशा तो उदर पूर्ति के लिए द्वारा पर जाकर लाङ्गूल चालन करने वाले कुत्ते के समान ही है।

अपने चञ्चल मन में विवेक शून्यता को देखते हुए कवि उपमा के द्वारा अपनी दीनता कितने सुन्दर ढंग से प्रकट कर रहा है–

का मे गति विर्शति नैव मनो विवेकः
स्वप्नेऽपि पक्कणमिव प्रवरो द्विजानाम्।
रुद्धेऽपि तत्र न स सोढुमलं मुहूर्तं
विश्वेश मौक्तिकमिवोपरि दर्पणस्य।।[5]

यहाँ एक ही पद्य में दो उपमाओं का प्रयोग है। मन में विवेक के अप्रवेश का सादृश्य, द्विजश्रेष्ठ का चाण्डाल के घर में अप्रवेश से किया गया है और

---

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य–9, 12.
2. वही, 1, 5. 45,
3. वही, 3, 11, 47.
4. वही, पद्य = 12.
5. वही, पद्य = 5.

प्रयत्नपूर्वक रोकने पर भी विवेक का मन में न रुकने की दशा की उपमा शीशे के ऊपर पड़े मोती से की गई है। यहाँ दोनों उपमायें सजीव एवं रोचक हैं। पाठकों के मन में एक साथ दो चित्र उपस्थित हो जाते हैं।

परिणाम में दुःखात्मक सांसारिक सुख छोटे जलाशयों के जलों के समान हैं—

चुण्टीजलैरिव सुखैः परिणामदुः खैः[1]

... ...।

मृत्यु की अनिश्चितता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

अद्यैव यामि शरणं परमेश्वर त्वां
शक्ष्यामि किं ननु तदाहतसर्वशक्तिः।
मृत्यु र्यदा मम भयाय पतत्यकस्मा-
दन्धस्य वक्त्र इव हस्ततलप्रहारः[2]**।**

कैसी स्वाभाविक उपमा है। मृत्यु का क्या पता कब आ जाए क्योंकि वह तो अन्धे के मूहँ पर पड़ी चपेटिका की तरह है। जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति अपने ऊपर चपेट मारने वाले व्यक्ति को चपेट पड़ने से पूर्व नहीं देख सकता। पूर्वसूचना के न मिलने के कारण वह उससे बचाव के लिए कोई उपाथ नहीं कर पाता, वह आकस्मिक प्रहार उसे शक्ति हीन कर देता है, उसी प्रकार मृत्यु के आगमन का भी निश्चय नहीं। क्या पता वह कब द्वार पर आ खड़ी हो जाय।

अज्ञानता जन्म-मरण के चक्र में फँसा कर मानव को अनेक जन्मों तक राक्षसी की तरह पीड़ित करती है—

....।
सानेकजन्ममरणावटपातनेन।[3]
मां राक्षसीव बहुनाथ तुदत्यविद्या।।

यथार्थ ज्ञान से विमुख व्यक्ति का मन पारे के समान चञ्चल है—

---

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य–1.
2. वही, पद्य = 32.
3. वही, पद्य = 3.

चित्तं न पारदमिव क्षणमुञ्झतीदं
चांचल्यविप्लवमयुक्तिविदः प्रभो मे ।।[1]

अज्ञान के द्वारा कभी नरक कभी स्वर्ग में ले जाये जाते हुए मानव की दशा गेंद के समान होती है—

घोरे क्षणं विनिपतन्नरके क्षणं च
पुण्यं पदं दिविषदां सहसाधिरोहन् ।
मोहेन कन्दुकदशामिव नीयमानः
स्वामिन् सहे किमवधीनि गतागतानि ।।[2]

इष्टजनों से वियुक्त मानव का विलाप स्त्रियों के विलाप के समान होता है—

"स्त्रिवन्मया विलपितम् विहिते न किञ्चित्"[3] ।

2. उत्प्रेक्षा

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के सुन्दर उदाहरण स्तोत्र में उपलब्ध होते हैं, जैसे

मोहात्कृतः प्ररिणयोऽप्यनयो महीया-
न्मूलं समस्तभवबन्धनदुर्गतीनाम् ।
यस्मादुदेत्य दुरपत्यजनेन सृष्ट-
स्नेहोऽस्मि वेष्टित इवोत्कटनागपाशैः[4] ।।

विवाह के बाद व्यक्ति बच्चों के झूठे प्रेम-जाल में ऐसे फँस जाता है, मानो वह भयङ्कर नाग-पाशों से घिरा हो।

इसी प्रकार गले में मृत्यु-पाश पड़े मानव की उत्प्रेक्षा कवि ने नागेन्द्र को धारण करने वाले शिव से की है—

कण्ठे ऽर्पयत्युरगपाशमसूयया मे
यामिन्यधीशशिख मत्समये कृतान्तः ।
नूनं तदा मुहुरुपैमि फणीन्द्रहार
त्वत्तुल्यतामिति भजे मरणेऽपि हर्षम्[5] ।।

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 45.
2. वही, पद्य = 4.
3. वही, पद्य 13.
4. वही, पद्य = 11.
5. वही, पद्य = 44.

3. रूपक

रूपक अलङ्कार का भी बहुत सुन्दर प्रयोग प्रस्तुत स्तोत्र में हुआ है। निम्न पद्य में कवि ने तीन रूपकों का एकत्र सन्निवेश किया है

दुःस्वप्न एष विषमो भवदुःखनामा
स्वामिन् कथं त्यजति मां विगतप्रबोधम्।
यस्मान्ममानवरतश्रुतभूरिशास्त्र-
तूर्यस्वनैरपि न शाम्यति मोहनिद्रा[1]।।

यहाँ प्रथम पाद में सांसारिक दुःख पर दुःस्वप्न का, तृतीय-चतुर्थ पाद में शास्त्र ज्ञान पर तुरही के शब्दों का एवं चतुर्थ पाद के ही अन्त में मोह पर निद्रा का आरोप किया गया है।

एवमेव संसार पर मरूस्थल का (भवमरौ-पद्य=1),

—भवबन्धन पर दुर्गतियों का- (भवबन्धनदुर्गतीनाम्-पद्य=11),

कुकर्म पर वायु का (शितिकर्मवायोः- पद्य = 8),

जन्म मरण पर कुओं का (स्वानेकजमरणावटपातनेन-पद्य= 3), आरोप नितान्त अवलोकनीय हैं।

4. काव्यलिङ्ग

काव्यलिङ्ग का प्रयोग भी मनोरम है, एक उदाहरण देखिए:-

कृत्वा पापमसावपोष्यत निजः कायो न दीनो जनो
वैवश्याल्लुठितं चिरं चरणयोः स्त्रीणां गुरूणां न तु।
लोभो कारि मया धने न सुकृते तेनानुतप्ये मह-
त्किं शक्यं मम तत्र कर्तुमधुना नाथ त्वमेका गतिः[2]।।

कवि को सन्ताप इस कारण हो रहा है कि उसने पाप करके अपने शरीर का पोषण तो किया, दीन जनों का पोषण नहीं किया, विवश होकर स्त्रियों के पैरों में तो गिरा, गुरु-चरणों की सेवा नहीं की, धन का तो लोभ किया पर पुण्यकर्म में मन न लगाया।

---

1. दीनाक्रं० स्तो०, पद्य = 47.
2. वही, पद्य = 48.

इसी प्रकार के काव्यलिङ्ग के कई उदाहरण स्तोत्र में मिलते हैं।

5. अनुप्रास

अनुप्रास का भी यथा स्थान प्रयोग है। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं–

> **अहं पापी पापक्षपणनिपुणः शङ्कर भवा-**
> **न्नहं भीतो भीताभयवितरणे ते व्यसनिता।**
> **अहं दीनो दीनोद्धरण विधिसज्जस्त्वमितर-**
> **न्न जानेऽहं वक्तुं कुरु सकलशोच्ये मयि दयाम्[1]।।**

यहाँ एक ओर तो प-प, भ-त, द-न, वर्णों की सकृत् आवृत्ति ने छेकानुप्रास की सृष्टि की है। दूसरी ओर भक्त और उनके उपास्य देव के मध्य एक निकट सम्बन्ध भी स्थापित किया है। कवि स्वयं को पापी बताता है और शिव को पापक्षपणनिपुण, स्वयं को भीत बताता है तो शिव को भीताभयवितरणव्यसन और अपने आप को दीन कहता है तो शिव को दीनोद्धरणविधिसज्ज कहता है।

इसी प्रकार

(क) ...... **लग्नोऽनिशं शिव शिवेति मम प्रलापः**– पद्य = 26.

(ख) ...... **ह ह हा हतोऽस्मि**– पद्य = 13.

(ग) ..... **निगूढदृढमूढदशाम्** ... पद्य = 8.

(घ) ...... **भुजङ्गमपुङ्गवानाम्**– पद्य = 25.

इत्यादि में भी अनुप्रास स्पष्ट है।

6. **अर्थान्तर न्यास**– का भी सुरुचिपूर्ण प्रयोग है। अर्थान्तरन्यास द्वारा कवि की यह स्तुति कितनी मनोहर है–

> **भ्रष्टोऽस्मि यद्यपि सतां चरितात्तथापि**
> **मां त्रातुमर्हसि कृतान्त भिया श्रयन्तम्।**
> **प्रह्वेषु विह्वलतया शरणागतेषु**
> **नो साधवो विदधते सदसद्विवेकम्[2]।।**

मैं सज्जनों के चरित्र से गिरा हूँ। तो भी मृत्यु से डरकर आप की शरण

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 49.
2. वही, पद्य =19

लेने वाले मेरी रक्षा आपको अवश्य करनी चाहिए क्योंकि दुःखी होकर शरण में आये दीनों पर सज्जन अच्छे बुरे का विचार नहीं करते।

यहाँ उत्तरार्द्ध के सामान्य द्वारा पूर्वार्द्ध के विशेष का समर्थन है।

7. **स्वभावोक्ति** अलङ्कार का प्रयोग भी कवि ने किया है—

रक्तार्द्रचर्मवसनाय महाश्मशान-
धाम्नेऽस्थिभूषणभृते फणिकङ्कणाय।
रक्षःपिशाच सचिवाय वलिं प्रयामो
रूपाय ते हर युगान्तनिशाचराय।।[1]

यहाँ शिव का स्वभाविक वर्णन हुआ है।

इसी प्रकार स्तोत्र के 30 वें पद्य में मृत्यु अवस्था का स्वभाविक वर्णन है।[2]

8. **परिकर** अलङ्कार के प्रयोग में भी कवि ने अपनी निपुणता दिखाई है

येष्वन्धकारनिकरेण करालिता भू-
र्यत्र ज्वलन्ति नरकेष्वनिशं हुताशाः।
धामत्रयीनयने निर्जरसिन्धुमूर्ध -
स्तत्रेतरस्त्वमिव कः शरणं नराणाम्[3] ।।

यहाँ शिव के दोनों विशेषण-धामत्रयीनयन और निर्जरसिन्धुमूर्धन् साभिप्राय हैं।

इसी प्रकार—

दुर्वारसंसृतिरुजा भृशकांदिशीकै-
स्त्वामोषधीपतिभृतं सुकृतैरवाप्य[4] ।

इस में ओषधीपतिभृत् साभिप्राय है।

9. **भाविक** अलङ्कार का भी स्तोत्र में प्रयोग हुआ है—

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 27
2. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० 61
3. वही, पद्य = 20.
4. वही, पद्य = 2.

या विक्रिया यमभटभ्रुकुटिच्छटानां
पीडाश्च या नवनवा नरकावनीषु।
ता निर्विशन्भव कथं भवितास्म्यमुत्र
कुत्र व्रजामि शरणं कतरं प्रपद्ये।।[1]

यहाँ भविष्यत् अद्‌भुत पदार्थ यम सैनिकों की भौहों एवं नरक पीडाओं का प्रत्यक्षवत् अनुभव दिया गया है।

इस प्रकार अन्यान्य अलङ्कारों के सरस स्वाभाविक प्रयोग से कवि ने अपने अलङ्कार-ज्ञान का परिचय दिया है।

(3) छन्दोरचना

वसन्ततिलका

काव्य में छन्द का चयन भी मनोहर है। स्तोत्र के प्रथम 47 श्लोकों में वसन्त तिलका छन्द का प्रयोग है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रम से एक तगण (ऽ ऽ ।) एक भगण (ऽ । ।) दो जगण (। ऽ ।, । ऽ ।) एवं दो गुरु (ऽ ऽ) होते हैं-**उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः**[2]।-

शार्दूल विक्रीडितम्

स्तोत्र के तीन पद्यों (48, 53, 54) में शार्दूल विक्रीडित छन्द है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रम से मगण, सगण, जगण सगण और दो तगण तथा एक गुरु होता है–

सूर्याश्वै र्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्[3]।

शिखरिणी

स्तोत्र के 49 वें पद्य में शिखरणी छन्द है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रम से एक यगण और एक मगण तथा नगण एवं एक सगण और एक भगण तथा एक लघु एवं एक गुरु होता है। छः और ग्यारह में यति होती है–

'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलाः गः शिखरिणी'[4]।

---

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 39.
2. वृत्तरत्नाकर–श्री केदारभट्ट विरचित, 3य अ०, का० = 79.
3. वही, का० = 101.
4. वही, का० = 93.

मन्दाक्रान्ता

स्तोत्र के 51 वें पद्य में इस छन्द का प्रयोग है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रम से एक मगण, भगण, नगण और दो तगण तथा दो गुरु होते हैं। चार, छः और सात पर यति होती है–

'मन्द्राक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरुचेत्[1]'।

स्रग्धरा

इस छन्द का प्रयोग स्तोत्र के 52 वें पद्य में है। इस छन्द के प्रत्येक पाद में क्रम से एक मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण होते हैं। सात, सात पर यति होती है:–

म्रभ्नैर्याणां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्[2]।

इस प्रकार छः विभिन्न एवं मनोहर छन्दों का कवि ने वर्णन किया है।

---

1. वृत्तरत्नाकर - श्री केदार भट्ट रचित, 3 य अ०, का० = 97.
2. वही, का० = 104.

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

द्वितीय भाग

मूल पाठ

अनुवाद

टिप्पणी

[illegible]

[illegible]

—

[illegible]

महाकवि श्री लोष्टक विरचित
दीनाक्रन्दनस्तोत्र
सटिप्पण अनुवाद

चुण्ठीजलैरिव सुखैः परिणामदुःखै-

रास्वादितैरपि मनागविलुप्ततृष्णः।

श्रान्तोऽस्मि हा भवमरौ सुचिरं चरित्वा

तच्छायया चरणयोः शिव मां भजेथाः ॥ १॥

अर्थ

छोटे कुओं के जलों के समान परिणाम में दुःख देने वाले (विषय भोग आदि सांसारिक) सुखों का स्वाद लेने पर भी जिस की इच्छा थोड़ी-सी भी पूर्ण नहीं हुई, ऐसा मैं, संसार-रूपी मरुस्थल पर दीर्घकाल तक विचरण करके थक गया हूँ। अतः हे शिव! मेरा सेवन कीजिए अर्थात् मुझे अपना कर मेरी रक्षा कीजिए।

टि०- परिणाम में दुःखात्मक सांसारिक विषयों के उपभोग से मानव कभी तृप्त नहीं होता। वह ज्यों- ज्यों इनका उपभोग करता है, त्यों- त्यों इनके प्रति तृष्णा प्रबल होती जाती है। यह भाव है।

यहाँ प्रथम पाद में विषयों की परिणाम दुःखात्मकता का सादृश्य छोटे जलाशयों (छोटे कुओं) के जलों से दिखाया गया है, अतः उपमा अलङ्कार है।

'भवमरौ' में उपमेय- 'भव' पर उपमान- 'मरुस्थल' का आरोप किया गया है, इसलिए रूपक है—

'रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे' —सा० द०, 10-28.

संसार रूपी मरुस्थल पर चिरभ्रमण से श्रांत होना, शिव के चरणों की छाया के लिए प्रार्थना करने का कारण है। अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है-

1. लतावितानसंछन्न-शिलाकीर्णोऽकृत्रिमो जलाशयश्चुण्ठी। -दी.क्र., पद्य 1 की टीका।

हेतो र्वक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते।

सा० द०10-63.

इन सब के द्वारा भक्त कवि एवं शिव में क्रमशः सेवक सेव्यभाव पुष्ट होने से-**दास्यभक्तिरस** है।

दुर्वारसंसृतिरुजा भृशकांदिशीक-
स्त्वामोषधीपतिभृतं सुकृतैरवाप्य।
आवेदयामि यदहं तव तन्निदानं
तत्रावधेहि मृड मा कुरु मय्यवज्ञाम्।।2।।

अर्थ

संसार-रूपी कठिन रोग से अत्यन्त संत्रस्त (किं कर्तव्यविमूढ) मैं औषधियों के स्वामी चन्द्रमा को धारण करने वाले आपको अपने शुभकर्मों द्वारा प्राप्तकर निवेदन कर रहा हूँ कि आप उस रोग का निदान (विश्लेषण) करें। सब को सुख देने वाले हे शिव! मेरी उपेक्षा न कीजिए।

टि० संसार एक भयङ्कर रोग है, क्योंकि इस में जन्म लेकर मानव विषयों में आसक्त होकर संसार से छुटकारा नहीं पा सकता। कवि शिव से प्रार्थना कर रहा है कि वे ही वैद्य बनकर इस रोग का निदान करें। क्योंकि यह संसार-रोग अति भयङ्कर है। इसलिए, शिव ही इससे मुक्त करने में समर्थ हैं।

पद्य के प्रथम पाद में संसार पर रोग का आरोप है, इसलिए **रूपकालङ्कार** है। शिव का विशेषण 'ओषधीपतिभृत्' साभिप्राय है, इसलिए **परिकर** भी है—

"उक्तै विंशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः"

सा० द०, 10.57

यहाँ भी **दास्य भक्ति रस** है।

दुर्वासनाशतवशादशुचित्वमीक्ष्य
या मे हठात्कृतवती मनसि प्रवेशम्।
सानेकजन्ममरणावटपातनेन
मां राक्षसीव बहु नाथ तुदत्यविद्या।।3।।

अर्थ

सैकड़ों दुर्वासनाओं के कारण को देखकर जिसने मेरे मन में बलात् प्रवेश

किया, हे प्रभो वह अविद्या राक्षसी की तरह अनेक जन्म-मरण-रूपी कुओं में गिरा कर मुझे बहुत कष्ट दे रही है—सता रही है।

टि० भाव यह है कि अज्ञान दुर्वासनाओं से ग्रस्त मन में ही प्रवेश करता है, और यही जन्म-मरण का कारण बनता है।

यहाँ पूर्वार्द्ध में प्रथम पाद का वाक्यार्थ दूसरे पाद के वाक्यार्थ का हेतु है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

तृतीय पाद में जन्म-मरण पर कुओं का आरोप होने से रूपक अलङ्कार है।

एवं चतुर्थ पाद में अविद्या की समानता राक्षसी से की गई है, अतः उपमा है। 'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः' -सा० द० 10.14

रस दास्य भक्ति है।

घोरे क्षणं विनिपतन्नरके क्षणं च
पुण्यं पदं दिविषदां सहसाधिरोहन्।
मोहेन कन्दुकदशामिव नीयमानः
स्वामिन्सहे किमवधीनि गतागतानि ।।4।।

अर्थ

हे स्वामिन्! किसी क्षण में घोर नरक में गिरता हुआ, और पल भर में देवताओं के पुण्य स्थान में चढ़ता हुआ, मैं गेंद की तरह लुढ़कता हुआ, आवागमन के चक्कर को सहता रहूँ क्या?

टि० यहाँ उन्नति और अवनति दोनों क्षणिक हैं यह भाव व्यङ्ग्य है।

मानव के नरक और स्वर्ग में क्रमशः अवरोहण एवं आरोहण की दशा का सादृश्य गेंद से की गई है, इस कारण उपमा अलङ्कार है।

प्रथम पाद में व्यञ्जनसमूह 'क्ष' और 'ण' व्यंजन का स्वरूप और क्रम से एक बार आवृत्ति हुई है, अतः छेकानुप्रास भी है 'छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत् साम्यमनेकधा' -सा० द० 10.3

यहाँ कवि की दास्य भक्ति अधिक प्रखर रूप से है।

का मे गति विंशति नेव मनो विवेकः
स्वप्नेऽपि पक्वकणमिव प्रवरो द्विजानाम्।
रुद्धेऽपि तत्र न स रोद्धुमलं मुहूर्तं
विश्वेश मौक्तिकमिवोपरि दर्पणस्य ।।5।।

अर्थ

हे सकल जगत् के स्वामिन्! मेरा क्या हो सकता है ? (मै कहां जाऊं ?) मन में विवेक (सद्बुद्धि) स्वप्न में भी उसी प्रकार प्रवेश नहीं करता जिस प्रकार चाण्डाल के घर में द्विजश्रेष्ठ (सपनें में भी नहीं जाता) और वह (विवेक) वहाँ (मन में) रोकने पर क्षणभर भी उसी प्रकार रोका नहीं जा सकता जिस प्रकार शीशे के ऊपर पड़ा मोती (वहाँ एक क्षण भी नहीं टिकता-गिरा जाता है)।

टि० यहाँ भाव यह है कि वासनाओं से अपवित्र मन में विवेक का प्रवेश नहीं होता, निर्मलमन में ही विवेक आता है।

यहाँ पूर्वार्द्ध में' विशति नैव मनो विवेक, यह उपमेय वाक्य है और, द्विजानां प्रवरः स्वप्नेऽपि पक्वणम् (नैव विशति) यह उपमान वाक्य है, प्रवेशरूप साधारण धर्म है, 'इव' वाचक शब्द है। अतः पूर्णोपमा अलङ्कार है–

'सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च।
उपमेयं चोपमानं भवेद् वाच्यम्' - सा० द०, 10.15

इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में मन में विवेक की अस्थिरता का सादृश्य दर्पण के ऊपर पड़े मोती से किया गया है, अतः यहाँ भी उपमा है। दोनों उपमायें स्वतन्त्र हैं, अतः उपमा-संसृष्टि है।

पित्रोर्जघन्यरसबिन्दुयुगं गृहीत्वा
हन्तासकृत्पतितवानधिगर्भवासम्।
तद्दुःखमन्वभवमीश गभीरकुम्भी-
पाकं वराक इति यस्य पुरो गृणन्ति।।६।।

अर्थ

हा दुःख की बात है! मैं माता-पिता के गुप्ताङ्गों के निंद्य रस (रज तथा वीर्य) की दो बूँदों को लेकर अनेक बार गर्भ में गिरा और दया के योग्य (विवश) मैंने गम्भीर कुम्भीपाक सदृश उस (गर्भ के) दुःख का अनुभव किया, ऐसा जिस की वुद्धियाँ स्तुति करती हैं–कहती हैं।

टि० गर्भवास के दुःख की समानता कुम्भीपाक से की गई है। अतः उपमा अलङ्कार है।

यहाँ जुगुप्सा सञ्चारी भाव से शान्त रस की परा पुष्टि हो रही है।

तत्र स्थितस्तदनु तत्तदनेकपूर्व-
जन्मान्तरस्मरणविस्मयदुःखितात्मा।
अस्मान्निसृत्य पुनरुद्भवभङ्गहेतो-
श्चेतो विधास्य इति चाकरवं प्रतिज्ञाम्।।७।।

अर्थ

तत्पश्चात् उस गर्भ में रहते हुए उन- उन अनेक पूर्वजन्मों के स्मरण एवं तत्सम्बन्धी विस्मय के कारण दुःखी मन वाले मैंने इस (गर्भ) से निकलकर पुनर्जन्म के विनाश के लिए (ईश्वर - भजन आदि शुभ कर्मों में) मन लगाऊँगा ऐसी प्रतिज्ञा की।

टि० इस का भाव यह है कि जब मानव मातृ-गर्भ में होता है, उसे पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ आती हैं, जिन में उसने अनेक प्रकार के दुःख भोगे। उन सब से दुःखी होकर वह गर्भ में ही यह प्रतिज्ञा करता है कि अब की बार गर्भ से निकलने पर ऐसा कर्म करूंगा जिससे मुझे पुनः जन्म ग्रहण करना न पड़े।

पद्य के प्रथम चरण में 'त' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः वृत्यनुप्रास अलङ्कार है–

'... .... **एकस्य सकृदप्येषः** ... ...'

—सा० द० : 10.4.

गर्भवास के समय की गई प्रतिज्ञा का कवि ने स्मरण किया है, जिससे उसके मन में निर्वेद का सञ्चार हो रहा है।

तेनाध्वनाथ निसृतोऽस्मि ततः स्मृतेऽपि
यस्मिन्निकाममभिमानधना[1]स्त्रपन्ते।
संस्पर्शतस्तु शतशः शितिकर्मवायोः
प्रायो निगूढ दृढमूढदशामवापम्।।८।।

अर्थ

और इस (प्रतिज्ञा) के बाद उस (गर्भ) के रास्ते से मैं निकला हूँ, जिसके स्मरण मात्र से अभिमानी लोग भी अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। (गर्भ से

1. कश्मीर की शारदा प्रति का पाठ।

निकलने के बाद) बहुधा दुष्टकर्म रूपी वायु के सैकड़ों बार स्पर्श से चुपचाप (सहन करने योग्य) एवं मूर्च्छाभरी (दयनीय) अवस्था को प्राप्ति हो गया हूँ।

टि० यहाँ गर्भ से निकलने के बाद जीवात्मा की विवशता का निरूपण है। वह गर्भ से तो पुनर्जन्म के कारण के विनाश की प्रतिज्ञा करके निकलता है परन्तु जन्म लेने के बाद दुष्कर्मों से घिरकर वह मूर्च्छित-सा हो जाता है, जिससे वह शुभ कर्म नहीं कर पाता।

पद्य के तृतीय चरणान्त में कुकर्म पर वायु का आरोप किया गया है। अतः रूपक अलङ्कार है।

और पद्य के प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पाद में क्रमशः 'त', 'न', 'श', 'द' वर्णों की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः छेकानुप्रास अलङ्कार है।[1]

तिर्यग्दशामिव शनैरविवेकसेका-
द्वर्षाण्यवाप्य परमेश्वर पञ्चषाणि।
तत्तत्कृतं पतदपि स्मृतिसीम्नि यद्य-
त्सद्यो ह्रियं जडधियोऽपि हृदि प्रसूते।।९।।

अर्थ

हे परमेश्वर! पशु-पक्षी की दशा के समान धीरे- धीरे अविवेक (अज्ञान) के प्रसार के कारण पाँच-छः वर्ष का होकर मैंने जो- जो कर्म किए वे स्मृति की सीमा पर आने पर (स्मरण आने पर) मूर्ख के भी हृदय में तत्क्षण लज्जा को उत्पन्न करते हैं।

टि० शैशवकाल में बालक अज्ञानवश छोटे जीव-जन्तुओं की हत्या, आपस में कलह आदि करते हैं। बचपन की इन्हीं शरारतों के प्रति कवि ने इङ्गित किया है।

पद्य के तृतीय पाद में 'त' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुइ है, अतः वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है।

रस पूर्ववत् दास्य भक्ति है।

दोष—यहाँ लज्जा सञ्चारी भाव का शब्दतः कथन होने से सञ्चारी भाव का स्वशब्दवाच्यत्व दोष है।[2]

1. छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत् साम्यमनेकधा। – सा० द०, 10.3
2. व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता
.... रसे दोषाः स्युरीदृशाः।। – का०प्र०-7.60-62

आसाद्य यौवनमथो बहुभिः प्रकारैः
शृङ्गारभङ्ग्यनुगुणै र्गुणिताविवेकः।
जातोऽस्मि घोरनरकावहकर्मयोगा-
द्भोगाशया प्रशमितोभयलोकशुद्धिः ॥१०॥

अर्थ—

इसके बाद यौवन को प्राप्त कर अनेक प्रकार के शृङ्गारिक चेष्टाओं के अनुसरण से अविवेक का सञ्चय करने वाले मैंने (विषयों के) भोग की इच्छा से घोर नरक में ले जाने वाले कर्मों के संयोग से दोनों लोकों की शुद्धता को नष्ट कर डाला है।

टि० भाव यह है कि मानव युवावस्था में यौन विषयों में फंस कर अविवेकी बन जाता है, और नरक के योग्य कुकर्म करता है, जिससे उसे इस लोक में भी सुख नहीं मिलता और परलोक में भी सद्गति नहीं होती। साथ ही भक्त कवि ने यह शोक प्रकट किया है कि जवानी में उसने विषय वासनाओं में लिप्त रहकर अज्ञान की वृद्धि की और दोनों लोकों की पवित्रता को नष्ट कर डाला।

भोग की लालसा से नरक योग्य कर्मों के संयोग को, दोनों लोकों की शुद्धि के विनाश का कारण कहा गया है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

द्वितीय पाद में 'ग' वर्ण की तथा चतुर्थ पाद में 'श' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः वृत्त्यनुप्रास भी है।

मोहात्कृतः परिणयोऽप्ययनो महीया-
न्मूलं समस्तभवबन्धनदुर्गतीनाम्।
यस्मादुदेत्य दुरपत्यजनेन सृष्ट-
स्नेहोऽस्मि वेष्टित इवोत्कटनागपाशैः ॥११॥

अर्थ—

मोह (अज्ञान) से किया गया विवाह भी बड़ी भारी विपत्ति है (और) सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनरूप दुर्गति का मूल कारण है। जिससे (विवाह के परिणाम स्वरूप) उत्पन्न हुई दुष्ट सन्ततियों के साथ प्रेम करने से मैं भयङ्कर नाग-पाशों से लपेटा-सा गया हूँ।

टि० यहाँ कवि ने विवाह को भवबन्धन का प्रधान कारण कहा है, उसका कारण यह है कि विवाह के परिणाम स्वरूप जब बच्चे पैदा हो जाते हैं तो मानव उनके प्रेम-पाश में ऐसा बंध जाता है कि वह उन के लिए कर्तव्य अकर्तव्य सब करने को मजबूर हो जाता है; जिससे उसे संसार में बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। उस पर भी यदि सन्तान दुष्ट हो तो माता-पिता का कष्ट और बढ़ जाता है।

यहाँ उत्तरार्द्ध में उपमेय सन्तति-प्रेम पर उपमान नाग-पाश की सम्भावना की गई है इस कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है- '**भवेत्संयम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना**'- सा० द० एवं पूर्वार्द्ध में '**भवबन्धनदुर्गतीनाम्**' इस वाक्य में भवबन्धन पर दुर्गति का आरोप होने से रूपक भी है।

तत्पोषणाय विदुषापि मया समस्त-
मौचित्यमुज्झितवतात्तवता कुकृत्यम्।
द्वारि श्ववल्लडितमेव कदीश्वराणां
सोढावमानशतविक्लवमानसेन॥ २२॥

अर्थ

विद्वान् होते हुए भी, उन (सन्तान) के पोषण के लिए सम्पूर्ण उचित कर्मों को छोड़ कर, बुरे-कर्मों को स्वीकार करने वाले मेरे द्वारा सैकड़ों अपमानों से दुःखी मन वाला होकर, कुत्सित (बुरे) स्वामियों के द्वार में (पूंछ हिलाकर पिण्ड याचना करने वाले) कुत्ते के समान गिड़गिड़ाना (याचना के लिए) हाव भाव दिखाना ही सहा गया।

टि० इस पद्य के द्वारा कवि ने उस व्यावहारिक तथ्य की ओर सङ्केत किया है, जिस में मानव अपनी सन्तान के भरण- पोषण के लिए जान बूझ कर भी बुरे कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है और अनेक अपमान सहता है। झूठी ममता से हुआ पतन इस में चित्रित है।

पद्य में याचना आदि के लिए दूसरों के द्वारे द्वारे भटकने वाले व्यक्ति की दशा का साम्य कुत्ते से की गई है, अतः उपमा अलङ्कार है।

पूर्वार्ध में विद्वान् होते हुए भी दुष्कर्म किए इस रूप में विद्वत्ता गुण का कुकृत्य ग्रहण रूप क्रिया से विरोध है, अतः विरोध अलङ्कार है।

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।
विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः॥- सा० द० 10.68

यहाँ निर्वेद सञ्चारी भाव है।

प्राणाधिकैरथ वियोगमवाप्य तैस्तैः
रिष्टैररुन्तुदविषादवशंवदेन।
स्त्रीवन्मया विलपितं विहितं न किञ्चि-
त्कृत्यं सतां समुचितं ह ह हा हतोऽस्मि।।१३।।

अर्थ

और प्राणों से भी अधिक (प्रिय लगने वाले) उन उन प्रेमीजनों से अलग होकर मर्मभेदी (तीक्ष्ण) दुःख के वशीभूत होकर मैंने स्त्री के समान विलाप तो किया, पर सज्जनोचित कोई कर्म नहीं किया। हा मैं कितना अभागा हूँ ?

टि० "तैः तैः वियोगमवाप्य" इस वाक्य में पञ्चमी के अर्थ में तृतीया का प्रयोग हुआ है। सामान्यतः अपादान अर्थ में पंचमी होती है—**अपादाने पञ्चमी**[1]।

मृत्यु को निरन्तर देखते हुए भी मानव की सत्कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती-यह शोचनीय है।

प्रियजनों के वियोग से उद्विग्न व्यक्ति के विलाप को सादृश्य स्त्रियों के विलाप से किया गया है, अतः उपमा अलङ्कार है। चतुर्थ पाद में 'ह' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः वृत्त्यनुप्रास भी है। प्रेमियों के वियोग से विलाप करने वाले और बाद में तत्त्वज्ञान होने पर अपने को कोसने वाले भक्त की इस उक्ति में निर्वेद सञ्चारी भाव है।

सांसारिकेषु विषयेषु निपत्य राग-
द्वेषैकनिष्टहृदयो भगवन्नभूवम्।
आसीददन्तकभयप्रतिकूलवृत्ति
किञ्चिन्मया न रचितं विदितं न वापि।।१४।।

अर्थ

हे भगवन् लौकिक विषयों में फँस कर मैं एकमात्र राग और द्वेष में ही मन लगाने वाला हो गया। (और) सब को निगलने वाले यमराज के डर के प्रतिकूल अर्थात् यमराज के भय से छुटकारा पाने के लिए, कोई कार्य न मैंने (स्वयं) किया, न जाना।

1. अष्टाध्यायी, 2.3.28

टि० कवि को यह दुःख है कि उसने सांसारिक विषयों में लिप्त रहकर मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण चक्र के विनाश के लिए न तो कोई शुभ कर्म किए न किसी शास्त्र अथवा गुरु से ज्ञान ही प्राप्त किया। कवि के इस कथन में निम्न अभिप्राय है

1. सभी सांसारिक विषय राग और द्वेष पैदा करने वाले होते हैं।
2. रागद्वेष के वशीभूत मानव मृत्यु भय को भी भूल जाता है।

कवि ने अपनी सांसारिक विषयों में आसक्ति से चिन्ता प्रकट की है, अतः निर्वेद सञ्चारी भाव है।

इत्थं न किं व्यवहृतं न किमुक्तमात्तं
किं वा न किं न कलितं ललितं न वापि।
सर्वत्र तत्र शरणं कृपणस्य मे त्व–
मेह्येहि देहि चरणं शिरसीन्दुमौले।।१५।।

अर्थ

इस प्रकार मैंने क्या नहीं किया ? क्या नहीं कहा ? क्या नहीं (अपने लिए) लिया ? (स्वार्थसिद्धि के लिए) क्या नहीं सोचा ? क्या नहीं चाहा ? उन सब में (सत्यासत्यविवेकशून्य) मुझ नीच का तुम ही रक्षक हो। सिर पर चन्द्र को धारण करने वाले हे शिव जी! (मेरे समीप) आइए और मेरे सिर पर अपना चरण रखिए।

टि० कवि की कृपणता इस पद्य में अवलोकनीय है। उसने अपनी दीनता, हीनता को व्यक्त किया है। उसका कहना है कि निःसार सांसारिक विषयों को सारवान् समझ कर सारा जीवन उन्हीं के उपार्जन एवं आस्वादन में व्यतीत कर दिया, किन्तु बाद में अपनी त्रुटि को पहचान कर शिवजी से सेवक बनाने की प्रार्थना कर रहा है।

पद्य के द्वितीय पाद में 'क' और 'ल' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः वृत्त्यनुप्रास है। तथा इसी पाद में एक ही स्वरूप वाले 'ल', 'त' वर्ण समूह की क्रमशः एक बार आवृत्ति हुई है, अतः छेकानुप्रास भी है।

सेवक भक्त ने स्वामी से चरणों की याचना की है, अतः दास्यभक्ति रस है।

याः प्रोत्कटा भ्रूकुटयो यमकिङ्कराणां
पीडाश्च या नवनवा नरकावनीषु।

ताश्चिन्तिता अपि भयाय ममाधुनैव
सोढास्मि ताः कथमहो विषमो विषादः।।१६।।

अर्थ

यमराज के सेवकों (यमदूतों) की जो भयङ्कर भौहें हैं और नरक-स्थलियों में जो नई - नई पीड़ाएं हैं, वे सोचने पर भी अभी मेरे भय का कारण बन रही हैं। मैं उनको कैसे सहन करूँगा, हा बहुत दुःख है ?

टि० कवि ने पद्य में यमदूतों और नरक के भीषण वातावरण का वर्णन किया है, जिससे उसके भागवत का ज्ञान स्पष्ट होता है[1]।

द्वितीय पाद में 'न' और 'व' का स्वरूपतः एवं क्रमशः सकृत् आवृत्ति हुई है, अतः छेकानुप्रास है।

यमराज के भौहों एवं नरकपीडाओं को भय के कारण के रूप कथन होने से काव्यलिङ्ग भी है। भाविक अलङ्कार भी है[2]।

निर्वेद सञ्चारी भाव से शान्तरस पुष्ट हो रहा है।

भीतोऽस्मि दुर्गततमोऽस्मि कदर्थितोऽस्मि
पापोऽस्मि विस्मृतसदध्वपरीग्रहोऽस्मि।
तत्केन केन न पथाऽस्मि कृपास्पदं ते
मत्वेति शङ्कर यथोचितमाचरेथाः।।१७।।

अर्थ

मैं डरा हुआ हूँः अत्यन्त कष्टग्रस्त हूँ, पीडित हूँ, पापी हूँ और सन्मार्ग्रग्रहण करना भूला हूँ। इसलिए हे शिव! किस-किस मार्ग से मैं आपकी कृपा का पात्र नहीं हूँ, ऐसा (मेरी दीन अवस्था) समझ कर जैसा उचित समझें वैसा कीजिए।

---

1. यमस्य पुरुषा धोराश्चण्डालसमदर्शनाः।
   ....
   तत्र वैतरणी नाम नदी ग्राहसमाकुला।।
   दुष्प्रवेशा च घोरा च मूत्रशोणितवाहिनी।। इत्यादि।
   —श्री मन्महाभागवत, चतुर्थ भाग, अध्याय - 145.
2. देखिए— प्रस्तुत स्तोत्र का पद्य = 39.

टि० यह पद्य भी शिव के पौराणिक वर्णन के निकट है क्योंकि पुराणों में शिव भीत, पापी, पीडित भक्तों के रक्षकरूप में वर्णित हैं। पद्य में, 'स्मि' की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः वृत्त्यनुप्रास है।

'अवगुणों से घिरा हूँ, अतः कृपास्पद हूँ, इस रूप में कृपा के पात्रत्व के लिए अवगुणों को कारण रूप में कहा गया है, इसलिए काव्यलिङ्ग भी है।

दास्य भक्ति रस है।

नो यत्र बन्धुरथ नैव पिता न माता
नो वा सुहृद्धृतिमुपेत्य विधातुमीष्टे।
तास्वेत्य नाथ नरकभूषु कुर्या-
स्त्राणं त्वमेव हि जगत्सु दयार्द्रचेताः।।१८।।

अर्थ

जहाँ न तो सगे- सम्बन्धी, और न ही माता-पिता तथा न ही कोई मित्र पहुँच कर धैर्य बंधाने में समर्थ हो पाता है, हे स्वामिन्! उन नरक भूमियों में पहुँचकर मेरी रक्षा कीजिए क्योंकि सम्पूर्ण भुवनों में केवल आप ही तो दया से प्लावित चित्त वाले हैं।

टि० कवि ने इस पद्य में शिव की दयालुता और सांसारिक सम्बन्धियों की निष्फलता का कथन किया है।

भुवनों में आप ही दयालु हैं, अतः मेरी रक्षा कीजिए, इस रूप में दयालुता का परित्राण के लिए कारण रूप में कथन है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार ध्वनिगम्य है।

दास्यरति स्थायी भाव है।

भ्रष्टोऽस्मि यद्यपि सतां चरितात्तथापि
मां त्रातुमर्हसि कृतान्तभियाश्रयन्तम्।

---

1. सर्वावस्थां गतो वापि मुक्तोऽयं सर्वपातकैः।
शिवध्यानान्न सन्देहो यथा रुद्रस्तथा स्वयम्।।
हत्वा भीत्वा च भूतानि भुक्त्वा चान्यतोऽपि वा।
शिवमेकं सकृत् स्मृत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

—लिङ्ग पुराण, 2य भाग, अ० 45, श्लोक 34, 35.

प्रद्वेषु विह्वलतया शरणागतेषु

नो साधवो विदधते सदसद् विवेकम् ।।१९।।

अर्थ

यद्यपि मैं सज्जनों के चरित्र से अर्थात् शुभकर्मों से गिरा हुआ हूँ, फिर भी यमराज (मृत्यु) के भय के कारण (आपका) आश्रय लेने वाले मेरी रक्षा आपको करनी चाहिए क्योंकि व्याकुलता के कारण शरण आये दीनों पर साधु लोग अच्छे बुरे का विचार नहीं करते।

टि० कवि का विचार है कि शिव शरणागत की रक्षा करने वाले हैं, चाहे शरणागत सत्पथ से विचलित क्यों न हो।

यहाँ उत्तरार्द्ध के सामान्य वाक्य द्वारा पूर्वार्द्ध के विशेष का समर्थन है। अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है-

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।

कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।

साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।।

-सा० द० 10.67

येष्वन्धकारनिकरेण करालिता भू-

यंत्र ज्वलन्ति नरकेष्वनिशं हुताशाः।

धामत्रयीनयन निर्जरसिन्धुमूर्ध-

स्तत्रेतरस्त्वमिव कः शरणं नराणाम् ।। २०।।

अर्थ

जहाँ पर की भूमि अन्धकार समूह में व्याप्त है और जहाँ नरकों में अग्नियाँ निरन्तर जलती रहती हैं, तेजोमय तीन नेत्रों को धारण करने वाले और देवगङ्गा को शिर पर धारण करने वाले हे शिव! वहाँ मनुष्यों का आपके सदृश कौन शरण (रक्षक) हो सकता है?

टि० यहाँ शिव के दोनों विशेषण धामत्रयीनयन, और निर्जरसिन्धुमूर्धन्, साभिप्राय हैं क्योंकि नरक भूमि अन्धकारमय है, इसलिए वहाँ ऐसे रक्षक की आवश्यकता है जो शरणार्थी को उस अन्धकार से बचा सके, और वहाँ अग्नियाँ

जलती रहती हैं, उस ताप से भी बचा सके—शिवजी तेजोमय तीन नेत्र धारण करते हैं, अतः अन्धकार से बचाने में समर्थ हैं, इसी प्रकार शिर पर गङ्गा को धारण करने के कारण—वहाँ की अग्नियों के ताप से भी रक्षा कर सकते हैं। अतः इन साभिप्राय विशेषणों के कारण यहाँ परिकर अलङ्कार है।

दास्यभक्ति रस इस में भी है।

प्राग्यावदिन्द्रियगणः पटुशक्तिरासी-
त्स्वामिन् स तावदगमद् विषयेषु निष्ठाम्।
शक्तिक्षयेऽद्य स कथं भजते भवन्तं
जन्मेति मे विफलमीश किमाः करोमि॥२१॥

अर्थ

हे प्रभो! पहले जब तक मेरा इन्द्रिय समूह प्रचंण्ड सामर्थ्यवान् था तब वह (सांसारिक) विषयों में अनुरक्त रहा। आज वह शक्तिक्षीण होने पर आपकी आराधना कैसे करे। इस प्रकार हे जगदीश्वर! मेरा जन्म निष्फल है हाय मैं क्या करूँ ?

टि० कवि का विचार है कि ईश्वर भक्ति भी युवावस्था में ही सम्भव है। वृद्ध होने पर जब इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, तब भक्ति भी नहीं होती। अतः यौवन में ही इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से हटाकर ईश्वर चिन्तन में लगाना चाहिए।

"ईश्वर भजन के अभाव में जन्म विफल है," इस रूप में ईश्वर भजन के अभाव को जन्म के विफल होने में कारण बताया गया है; अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

अपने पूर्व कर्मों से कवि को दुःख हो रहा है। अतः निर्वेद सञ्चारी भाव है।

नादायि दानमथ नैव तपो व्यधायि
नासेवि तीर्थदिगसाध्यतरः समाधिः।
तत्का परत्रगतिरस्त्यनवाप्तपुण्य-
ज्ञानस्य मे भव भवत्स्मृतिमन्तरेण।।२२।।

अर्थ

न (किसी) को दान दिया, न कोई तप किया और न ही किसी तीर्थ दिशा

1. यह श्लोक वल्लभदेव ने सुभाषितावली में कर्ता के नामोल्लेख के विना उद्धृत किया है। -द्रष्टव्य, दी.क्र..,पद्य 22 पद पादटिप्पणी

में अर्थात् किसी तीर्थ में जाकर कोई दुस्साधनीय समाधि की। अतः हे शम्भो! पुण्य ज्ञान से विमुख मेरे लिए आपके स्मरण के अतिरिक्त परलोक में कौन-सी गति होगी-मेरा क्या होगा?

टि० इस श्लोक की वल्लभदेव ने सुभाषितावली में उद्धृत किया है। वहाँ इसके कर्ता के बारे में कुछ सङ्केत नहीं है।

पुण्य के अनेक साधन है, जैसे- दान, तप, समाधि आदि। परलोक प्राप्ति के लिए कोई अच्छा कर्म न करके, मैं पापी बना रहा अब तो शिव स्मरण ही मेरे लिए परलोक का साधन बन सकता है। कवि का यह भाव यहाँ ध्वनित हो रहा है।

पद्य के चतुर्थ पाद मे एक ही स्वरूप वाले दो वर्णों (भ, व) की क्रमशः सकृत् आवृत्ति है, अतः छेकानुप्रास है।

कालान्न मे भयमथो कनके न लिप्सा
नैवास्मि शैशववशेन पयः पिपासुः।
त्वद्दर्शनाय तु शिव स्पृहयामि लोभा-
त्तत्रपि किं तव न वा सुकरः प्रकारः।।२३।।

अर्थ

न मुझे मृत्यु से डर है, न सुवर्ण प्राप्त करने की इच्छा है, और न ही बालपन के कारण दूध पीने का इच्छुक हूँ, परन्तु हे शङ्कर! तुम्हारे दर्शन के लिए लोभ से चाहना करता हूँ, क्या उस में भी तुम्हारा सरल ढँग नहीं है? अर्थात् मुझे दर्शन भी नहीं दे सकते?

टि०—कवि ने इस पद्य द्वारा तीन पौराणिक आख्यानों की ओर सङ्केत किया है-

1. श्वेतराजा को शिव द्वारा यमराज के भय से छुड़ाना।

2. शिव द्वारा मरुत्त राजा के नगर में सात दिन तक सुवर्ण वर्षा। और

3. मुनिकुमार उपमन्यु के लिए दुग्ध प्रदान करना।

ये आख्यान हमें कवि के पौराणिक ज्ञान से परिचित कराते है।

---

1. देखिए-काव्यमाला गुच्छक षष्ठ भाग : (नारायण सागर प्रेस, बम्बई सन्- 1890) में प्रकाशित दीनाक्रन्दन स्तोत्र के 23 वें श्लोक की टिप्पणी।

कवि की दृढ भक्ति यहाँ शिव को उपालम्भ दे रही है।

शिव-दर्शन की तुलना में सांसारिक ऐश्वर्य तुच्छ है, यह व्यतिरेक ध्वनि है।

चतुर्थ चरण के "सुकरः प्रकारः" में अनुप्रास अलङ्कार है।

दास्यभक्ति रस है।

यज्जन्म दुर्लभमुशन्ति मनुष्यलोके
तत्प्राप्तिमप्यतनुपूर्वशुभप्रभावात्।
जातं वृथैव मम यत्र मुहुः कदापि
नैवान्वभावि भवदर्चनभक्तिसौख्यम्॥ (२४)॥

अर्थ

मर्त्य-लोक में दुष्प्राप्य जिस (मनुष्य) जन्म की (सभी आत्मायें-या लोग) चाहना करते हैं, पूर्वजन्म के अनल्प शुभकर्मों के प्रभाव से पाया हुआ भी मेरा वह (मनुष्य जन्म) व्यर्थ ही हुआ, जिस में कभी मैंने थोड़ी देर के लिए भी आपकी पूजा और भक्ति के सुख का अनुभव नहीं किया।

टि० पिछले जन्म के अनेक शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य जीवन मिला है, परन्तु उसमें भगवान् का ध्यान न किया जाए तो वह व्यर्थ समझा जाता है।

इस श्लोक में 'यत्र मुहुः ... भक्तिसौख्यम्' इस वाक्यार्थ को, 'यज्जन्म ... जातं वृथैव मम' इस वाक्यार्थ के कारण रूप में कथन किया गया है। अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

इसी प्रकार श्लोक के प्रथम तथा तृतीय पाद में 'म' की, द्वितीय पाद में 'प' की तथा चतुर्थ पाद में 'भ' वर्ण की असकृत् आवृत्ति हुई है, अतः वृत्त्यनुप्रास भी है।

भगवान् की पूजा के अभाव से कवि चिन्तित है। अतः निर्वेद सञ्चारी भाव है।

जाति महेश्वर भुजङ्गमपुङ्गवानां
स्तुत्या वरं भवदलङ्कृतिवाहकृत्यैः।
मानुष्यकं तु मम धिक्कलया कयापि
यन्नोपयोगमगमत्त्वयि मच्छरीरम्॥ २५॥

अर्थ

हे महेश्वर! सर्प और बैल की जाति (क्रमशः) आपके अलङ्कार और वाहन कर्मों के करने के कारण स्तुति के योग्य हैं। परन्तु मेरे मानव देह को धिक्कार है जो किसी भी कला (कुशलता) से आपके उपयोग में नहीं आ सका।

टि० मनुष्य जन्म पाकर यदि ईश्वर का भजन-पूजन न किया जाए तो वह व्यर्थ है।

यहाँ ईश्वर के काम न आने वाले मनुष्य से भगवान् का काम आने वाला पशु अच्छा है। यह व्यतिरेक ध्वनि है।

मानव शरीर का भगवान् के काम न आना, उसकी व्यर्थता में कारण है। अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

प्रथम चरण में "भुजङ्गमपुङ्गवानाम् "मे ङ्ग", की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास भी है।

निर्वेद सञ्चारी भाव है।

शश्वद् भृशव्यसनितामपि मेऽवधार्य
धत्से कथं परमकारुणिकोऽप्यवज्ञाम्।
किं नाथ पश्यसि न परिहृत्य शङ्का
लग्नोऽनिशं शिव शिवेति मम प्रलापः ॥२६॥

अर्थ

मेरी नित्य (रहने वाली) अत्यधिक संकट (विपत्ति) को निश्चित जानकर भी, अत्यन्त दयाशील होते हुए भी आप (मेरी) अवहेलना क्यों क्यों कर रहे हैं?

हे स्वामिन्! मेरा विलाप (अपना दास बनाओगे या नहीं, इस प्रकार की) दुविधा को छोड़ कर निरन्तर शिव शिव की रट में लगा है क्या (यह सब आप) नहीं देख रहे हैं ?

टि० यहाँ कवि की शिव के प्रति दृढ भक्ति व्यक्त हो रही है। शिव को सामान्य जन की श्रेणी में रखकर वह उससे प्रश्न पूछ रहा है।

शिव अत्यन्त दयालु हैं, सङ्कट मोचक हैं। कवि का विश्वास है कि सङ्कट के समय आस्था पूर्वक शिव, शिव का उच्चारण किया जाए तो सब विपत्तियां दूर हो जाती हैं।

इस पद्य के चतुर्थ पाद में एक ही स्वरूप वाले दो व्यञ्जनों-'श' और 'क' का क्रमशः सकृत् आवृत्ति है, अतः छेकानुप्रास है।

कवि की शिव के प्रति सेव्य-भावना द्वारा भक्ति रस की पुष्टि कर रही है।

'शङ्का' सञ्चारी भाव का शब्दतः कथन है, अतः आचार्य मम्मट के अनुसार स्वशब्दवाच्यत्व दोष है।[1]

रक्तार्द्रचर्मवसनाय महाश्मशान-
धाम्नेऽस्थिभूषणभृते फणिकङ्कणाय।
रक्षःपिशाचसचिवाय बलिं प्रयामो-
रूपाय ते हर युगान्त-निशाचराय।।२७।।

अर्थ

हे शङ्कर! रक्त से गीले चमड़े के वस्त्रों को धारण करने वाले महाश्मशान को अपना धामसमझने वाले, हड्डियों के आभूषणों से युक्त, सर्पों को कङ्कण बनाने वाले, एवं राक्षसों और पिशाचों को सचिव (सहचर या मन्त्री) बनाने वाले, एवं प्रलयरूपी रात्रि में विचरण करने वाले आप के रूप के लिए भेंट बन जाते हैं।

टि० भक्ति-विभोर कवि यहाँ अपने को शिव को न्योछावर कर रहा है। यहाँ शिव के कर्म एवं रूप का स्वाभाविक वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

'स्वभावोक्ति दुरूहार्थ स्वक्रियारूपवर्णनम्' - सा० द०, 10. 92. एवं युगान्तनिशाचराय' में प्रलय पर रात्रि का आरोप होने से रूपक भी है।

दास्यभक्ति रस है।

दिव्योत्तरीयभृति कोस्तुभरत्नभाजि
देवेऽपरे दधतु लुब्धधियोऽनुबन्धम्।
रूपं दिगम्बरमखण्डनृमुण्डचूडं
भावत्कमेव तु बतेश मम स्पृहायै।।२८।।

अर्थ

उज्ज्वल अथवा सुन्दर उत्तरीय वस्त्र को पहनने वाले, कौस्तुभमणि को (सिर पर) धारण करने वाले, दूसरे देव (विष्णु) में लोभी बुद्धि वाले, प्रेम करते,

1. का० प्र० 7.60

फिरें। परन्तु हे स्वामिन्! मेरे लिए तो दिशा रूपी वस्त्रों और मनुष्य के पूरे सिर को धारण करने वाले आपका ही रूप स्पृहणीय है अर्थात् मुझे तो अपका ही रूप पसन्द है।

भक्त के लिए उसे स्वामी के सामीप्य और दर्शन से ज्यादा कोई वस्तु प्रिय नहीं होता। उन पदार्थों में उसकी कोई रुचि नहीं होती, जिनकी सम्बन्ध उसके आराध्य देव से न हो। इसके विपरीत जो पदार्थ उसके इष्टदेव से सम्बन्ध रखते हैं, उनके दर्शन मात्र से वह सन्तुष्ट हो जाता है।

इस पद्य के प्रथम चरण में 'त' वर्ण की अनेक बार, और 'र' वर्ण की एक बार आवृत्ति हुई है, द्वितीय चरण में 'ध' की अनेक बार आवृत्ति हुई है तथा तृतीय चरण में 'ण' और 'ड' की क्रमशः एक और अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है।[1]

विष्णुभक्त की आराधना सकाम होती है और शिवभक्त की निष्काम। अतः विष्णु-भक्तों की अपेक्षा शिव-भक्त श्रेष्ट हैं, यह भाव व्यङ्ग्य है। अतः व्यतिरेक ध्वनि है।

जीवामि चेदथ पृथुप्रियविप्रयोग-
रोगादयो नरकदुःखभियोऽन्यथापि।
घ्नन्त्येव मामुभयथाप्यसुखोऽहमित्य-
त्रोचितं हर चरस्व कृपालुतायाः ॥३९॥

अर्थ

और यदि जीवित रहता हूँ तो प्रिय व्यक्तियों का महान् वियोग तथा रोग आदि मारते हैं अर्थात् सताते हैं, अन्यथा (मरने पर) भी नरक के दुःखों का त्रास (मारते हैं)। इस प्रकार मैं दोनों ओर से दुःखी हूँ। (अतः) हे शिव! इस (दीन मुझ) पर दया के अनुरूप व्यवहार कीजिए अर्थात् मुझ पर दया कीजिए।

टि० जीने में भी और मरने में भी दुःख देखकर कवि चिन्तित है। इस पद्य में "अत्रोचितं हर चरस्व कृपालुतायाः" इस वाक्यर्थ के कारणों का प्रथम तीन पादों में कथन किया गया है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

तृतीय पाद में "म" वर्ण की अनेक बार और 'थ' वर्ण की सकृत् आवृत्ति हुई है, इसलिए वृत्त्यनुप्रास भी है।

1. मिलाइये-कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते।। शिवस्तोत्रावली (उत्पलदेवकृत)

कवि की दीन पुकार से दास्यभक्ति रस की पुष्टि हो रही है।

यत्रेन्द्रियाणि विरमन्ति निजक्रियाभ्यो
यात्यान्तरोऽपि करणप्रसरो ऽवसादम्।
प्राणास्सत्रुटन्ति च समस्तनिरासभूतं
मामेत्य शङ्कर कुतोऽपि तदा दयेथाः।।३०।।

अर्थ

जब इन्द्रियां (5 ज्ञानेन्द्रियां और 5 कर्मोन्द्रियां) अपनी-अपनी क्रियाओं से निवृत्त हो जाती हैं, आन्तरिक इन्द्रिय (मन) की गति का भी अन्त हो जाता है, हे शङ्कर! तब (इस प्रकार के मृत्यु समय पर) सब प्रकार से निराश हुए मुझ पर कहीं से भी आकर दया कीजिए।

टि० यहाँ मृत्यु समय का यथार्थ वर्णन है, अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

निराश होकर अपने स्वामी से दया की भीख मागने वाले कवि की यह प्रशस्ति दास्यभक्ति रस के अनुरूप है।

स्वाशेषपूर्वदुरितस्मरणादुदेति
यत्रासमं भयमसुप्रशमप्रसङ्गे।
कः कांदिशीकमनसः शरणं तदा मे
स्वामिंस्तवैव समयः स कृपालुतायाः।।३१।।

अर्थ

जिस प्राणत्याग के समय पहले किये गये अपने सम्पूर्ण पाप के स्मरण से विषम भय उत्पन्न होता है– तब सन्त्रस्त मन वाले मेरा कौन शरण होगा ? हे स्वामिन्! वह आपकी ही दया का समय है।

टि० मृत्यु के समय जब मानव अपने पूर्वकृत कर्मों पर दृष्टि डालता है तो वह अपने द्वारा किये गये अनेक प्रकार के अशुभ कर्मों के स्मरण से भयभीत हो जाता है। ऐसी भयावह दशा में शिव ही उसका रक्षक बन सकते हैं।

पद्य के द्वितीय पाद में 'म' वर्ण की एवं चतुर्थपाद में 'स' वर्ण की असकृत् आवृत्ति हुई है, अतः वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है।

निर्वेद सञ्चारी भाव है जो दास्यभक्ति रस को पुष्टि कर रहा है।

अद्यैव यामि शरणं परमेश्वर त्वां
शक्ष्यामि किं ननु तदा हतसर्वशक्तिः।
मृत्यु र्यदा मम भयाय पतत्यकस्मा-
दन्धस्य वक्त्र इव हस्ततलप्रहारः।।३२।।

अर्थ

हे सर्वेश्वर शिव! आज ही रक्षक आपके पास आ रहा हूँ। अर्थात् आपकी शरण आ रहा हूँ। (क्यों कि) अन्धे व्यक्ति के मुँह पर (पड़े हुए) करतल प्रहार (चाँटे) के समान मृत्यु जब अचानक मेरे भयके लिए गिरेगी तब नष्ट हुई सम्पूर्ण शक्ति वाला मैं क्या कर सकूंगा?

टि०– वृद्धावस्था में जब मानव को मृत्यु का भय सताने लगता है तो वह किसी भी कार्य में समर्थ नहीं होता। इस लिए दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर समय में ही ईश्वर में चित्त लगाना चाहिए। क्यों कि मृत्यु का कोई ठिकाना नहीं, कब आ जाए।

इस पद्य में मृत्यु के आकास्मिक आगमन की तुलना अन्धे व्यक्ति के मुँह पर पड़े चांटे से की गई है, अतः उपमालङ्कार है।

पद्य के तृतीय चरण में 'म' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने से अनुप्रास भी है।

दास्यभक्ति रस है।

आर्तिक्षणे सपदि विस्मर तात मात–
रित्यादिकं च विफलं कृपणप्रलापम्।
शर्वेश शङ्कर शिवेति नुतिं भजस्व
जिह्वे यतो विघटतेऽखिलदुःखभारः।। ३३।।

अर्थ

हे जिह्वे! दुःख के क्षणों में हे माता! हे पिता! इत्यादि व्यर्थ प्रलाप अथवा दीन प्रलाप को एक दम भुला दो और (उसके स्थान पर) हे शर्व! हे ईश! हे शङ्कर! हे शिव! इस स्तुति को कर जिस से समस्त दुःखों का भार निवृत्त हो जाता है।

टि० विपत्ति के समय प्रायः मनुष्य अपने प्रियजनों, विशेषतः माता-पिता

का स्मरण करते हैं, लेकिन यह व्यर्थ है, क्योंकि जिस विपत्तिनाश के उद्देश्य से उनका स्मरण किया जाता है, वे उसके निवारण में समर्थ नहीं होते। अतः उस समय यह सब भूल कर शिव की स्तुति करनी चाहिए, क्योकि यह सम्पूर्ण दुःख को दूर करने में समर्थ है।

यहाँ चतुर्थ पाद का वाक्यार्थ प्रथम तीन पङ्क्तियों के वाक्यार्थ का कारण है, अतः काव्यलिङ्ग है। प्रथम पाद में 'त' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने से 'वृत्त्यनुप्रास' है।

और शिवस्मरण की तुलना में माता-पिता का स्मरण तुच्छ है। इस रूप में व्यतिरेक भी है। इन सब अलङ्कारों से कविनिष्ट दास्य रति भाव पुष्ट हो रहा है।

स्वास्थ्ये मदात्कति न दुश्चरितानि नाम
नाथ व्यधां गतविवेकतया विशङ्कः।
संस्मृत्य मृत्युभयमद्य तु विह्वलोऽस्मि
श्रीकण्ठ भोक्तुमपि येन न पारयामि।।३४।।

अर्थ

हे स्वामिन्! स्वस्थावस्था में विवेक (सत्य-ज्ञान) के नष्ट हो जाने के कारण निर्भीक हो, मैंने कितने दुराचरण नहीं किए ? पर आज मृत्यु के डर का स्मरण करके व्याकुल (विक्षुब्ध, सन्त्रस्त) हूँ, जिस के कारण हे श्रीकण्ठ! भोजन करने में भी समर्थ नहीं हूँ।

टि० स्वस्थावस्था में मानव प्रायः विवेक से दूर रहता है, जिस के परिणाम स्वरूप वह पाप कर्म में मस्त रहता है। यदि स्वस्थावस्था में विवेक को न खोकर मनुष्य सत्कर्म करे तो उसे मृत्यु से क्या भय?

यहाँ तृतीय चरण में 'म' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः वृत्यनुप्रास है।

कवि की विह्वलता उसके दास्यरति स्थायी भाव को पुष्ट कर रही है।

पूर्वं न चेद्विरचिता तव देव सेवा
तेनैव नैव दयसे श्रयतो ममार्तिम्।
किं प्रागसंस्तुत इति प्रतिपन्नमूल-
च्छायं गतश्रमरुजं न तरुः करोति।।३५।।

अर्थ

हे भगवन्! पहले आपकी सेवा (मैंने) नहीं की, यदि इसी कारण आश्रित मेरी विपत्ति पर दया नहीं कर रहे हो तो क्या पूर्व अपरिचित समझ कर वृक्ष अपने नीचे छाया में आये व्यक्ति को, थकावट के सन्ताप से विमुक्त नहीं करता?

यहाँ 'वृक्ष अपने नीचे छाया में आये व्यक्ति के श्रम को दूर नहीं करता?" इस वाक्यार्थ से काकु (गले की विशेष प्रकार की आवाज, "**भिन्नकण्ठध्वनि र्धीरैः काकुरित्यभिधीयते**" द्वारा अपने नीचे आये हुओं के श्रम को अवस्य दूर करता है" यह अर्थ आ रहा है, अतः काकुवक्रोक्ति-अलङ्कार है।

प्रथम पङ्क्ति में 'व' वर्ण की असकृत् आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास की सृष्टि कर रही है।

काकुगम्य अर्थ के द्वारा दास्य रति भाव पुष्ट हो रहा है।

ज्ञानप्रकाशसुलभं शिव दर्शनं ते
जात्यन्धतैव च परं मम तद्वियोगात्।
स्थाणो[1] त्वमेव किल कामपि देहि युक्तिं
व्यक्तिं यथैष्यसि मम श्रममन्तरेण।।३६।।

अर्थ

हे शिव! आपका दर्शन ज्ञान के प्रकाश से प्राप्त करने योग्य है, परन्तु उस (ज्ञान) के अभाव से मेरी जन्मान्धता ही है अर्थात् जन्म से ही अन्ध तुल्य हूँ। (अतः) आप ही कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे परिश्रम के विना ही आप मेरे सामने प्रकट हों अर्थात् आपका साक्षात्कार हो।

प्राप्येदृशीमपि मनुष्यदशां न पुण्ये
ज्ञाने अथवा विधिहतोऽप्यगमं प्रतिष्ठाम्।
सामग्र्यसावथ कुतः पुनराप्यते मां
स्वामिन्नधन्यमनुकम्तुिमर्हसि त्वम्।।३७।।

अर्थ

ऐसी (दुर्लभ) मनुष्य अवस्था (जन्म) को पाकर भी अभागा मैं पुण्य में

1. संशोधित पाठ : क, ख - दोनों में अनुपलब्ध।

अथवा ज्ञान में प्रतिष्ठा न पा सका (पुण्य और ज्ञान प्राप्त न कर सका)। और वह (ज्ञान) सामग्री (अथवा ज्ञान का साधन भूत मनुष्य जन्म) पुनः कैसे प्राप्त किया जा सकता है? हे नाथ! इस अभागे पर कृपा कीजिए।

टि०– मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता। अतः इस जन्म को पाकर शुभ कर्मों में मन लगाना चाहिए।

पुण्य ज्ञान से विमुख कवि की चिन्ता दास्यभक्ति रस का पोषक बन रही है।

लीनेन भूरिविषयाध्वनि सौख्यलोभा-
न्नामापि मोहितधिया कलितं न मृत्योः।
आसीदतः सपदि तद् भयतो मया किं
शक्यं विधातुमहहा महदाकुलोऽस्मि।।३८।।

अर्थः

सुख की लालसा से विषय के मार्ग (उपभोग) में डूबे हुए मूढबुद्धि मैंने मृत्यु (यम) के नाम को भी नहीं लिया था। इसलिए उस (मृत्यु) के डर के कारण मेरे द्वारा झट-पट क्या किया जा सकता है। हा मैं बहुत उद्विग्न हूँ।

टि० जिन की बुद्धि मोह-जाल में फंस जाती है, वे सुख की लालसा से विषयों के उपभोग में इतने लिप्त रहते है कि उन्हें मृत्य के डर का भी ध्यान नहीं रहता।

कवि को इस बात से बहुत दुःख है कि वह भी मोह में फँस कर सांसारिक विषयों में सुख की खोज करता रहा।

अपने किये पर कवि चिन्तित है, अतः निर्वेद सञ्चारी भाव है।

इस पद्य में आसीत्' क्रिया का सम्बन्ध पूर्वार्ध के साथ है। अतः वहीं इसका सन्निवेश चाहिए था। यह पद द्वितीयार्ध में चला गया है।

अतः यहाँ अर्धान्तरैकपदत्व नामक वाक्य दोष है[1]।

या विक्रिया यमभटभ्रूकुटिच्छटानां
पीडाश्च या नवनवा नरकावनीषु।

---

1. देखिए : सा० द०, 7.8 का वृत्तिभाग।

ता निर्विशन् भव कथं भवितास्म्यमुत्र
कुत्र व्रजामि शरणं कतरं प्रपद्ये।।३९।।

अर्थ

यमराज के सैनिकों की भौहों की कान्ति का जो परिवर्तन और नरक-भूमियों में जो नई-नई पीड़ाएँ हैं, उन में प्रवेश करता हुआ मैं परलोक में कैसा होऊँगा? हे शङ्कर! कहां जाऊं ? किसके शरण पडूं?

टि०—इसी भाव का पद्य कुछ ही शब्द परिवर्तनों के साथ पहले आ चुका है[1]।

यहाँ भविष्यत् अद्भुत पदार्थ 'यमराज की सेनाओं की भौहों एवं नरक पीड़ाओं को प्रत्यक्षवत् अनुभव किया गया है, अतः भाविक अलङ्कार है—

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्।।

-सा० द०, 10.93.

निर्वेद सञ्चारी भाव है।

स्मृत्वाप्यहो रविजकिङ्कृतहुङ्कृतीनां
मुह्यामि यामि विलयं भयविह्वलात्मा।
आसन्नमेवमहहा विषमं पुरस्ता-
त्तत्का गति र्मम कुकर्मनिमग्नवृत्तेः।।४०।।

अर्थ

अरे! यमराज के सेवकों की हुङ्कार का स्मरण करके भी मोहित हो रहा हूँ। (और उनके) डर से व्याकुल घबराया हुआ—मृत्यु को प्राप्त हो रहा हूँ। हाय! यह सङ्कट निकट ही है। तो दुष्कर्मों में व्यस्त चित्तवृत्ति वाले मेरी आगे क्या दशा होगी?

टि० पद्य के प्रथम चरण में एक ही स्वरूप वाले दो व्यञ्जनों ('कृ' तथा 'त' का) एवं द्वितीय चरण में 'य' तथा 'म' का (यामि-यामि) क्रमपूर्वक सकृत् आवृत्ति होने से छेकानुप्रास अलङ्कार है।

---

1. दीनाक्र० स्तो०, पद्य = 16.

ङ्कृ, ङ्कृ माधुर्य व्यञ्जक वर्ण हैं।

निर्वेद सञ्चारी भाव है।

आसन्नपापशतसंभृतघोरपीडः
क्रन्दाम्यनन्यगतिकत्ववशात्पुरस्ते।
तस्मात्कथं न दयसे त्वरितं कुतश्चि-
दागत्य विश्वमय सान्त्वय मां वराकम्।। ४१।।

अर्थ

समीपस्थ सैकड़ों पापों से उत्पन्न भीषण पीडा युक्त मैं दूसरा शरण न पाकर आपके सामने विलाप कर रहा हूँ। इस कारण हे सर्वव्यापी देव! शीघ्र कहीं से आकर मुझ दीन पर दया क्यों नहीं कर रहे हैं?

टि० यहाँ शिव को विश्वमय कहकर, 'कहीं से भी आकर रक्षा कीजिए, कहने से विरोध है, क्योंकि जो विश्वमय हैं—सर्वव्यापी हैं, उसे कहीं से आने की क्या आवश्यकता ?

'त' वर्ण की असकृत् आवृत्ति अनुप्रास की सृष्टि कर रही है।

कवि निष्ट शिवविषयक दास्यरति भाव है।

पश्यन्समानवयसोऽपि यवीयसोऽपि
नक्तं दिवं यमभटैरपि नीयमानान्।
आत्मन्यभूवमजरामरताभिमानी
यद्विप्लवादकरवं न शुभं कदाचित्।। ४२।।

अर्थ

(अपने) समान आयु वालों को भी और (अपने से) छोटों को भी यमराज के सैनिकों द्वारा रात-दिन ले जाए जाते देख कर भी (मैंने) अपने को जरा मृत्यु रहित होने का अभिमान किया। जिस के उल्लङ्घन से कभी भी कोई अच्छा कर्म नहीं किया।

टि० यहाँ समवयस्क और छोटों को मरते देखकर भी (कारण होने पर भी) अजर-अमर होने के अभिमान का अभाव न होने रूप कार्य की उत्पत्ति न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है—

''सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा'' –सा० द०, 10.67.

द्वारे लुठामि करुणं प्रलपामि शम्भो
वाञ्छामि चुम्बितुमथ परिरभ्य च त्वाम्।
वातूलतामुपगतोऽस्मि तवानुरागा-
द्धा दुःसहस्त्वयि ममैष दृढोऽनुरागः।।४३।।

अर्थ

हे शङ्कर! मैं (आपके) दरवाजे पर लोट रहा हूँ, और करुण-विलाप कर रहा हूँ तथा आलिङ्गन करके आपको चूमना चाहता हूँ। तुम्हारे प्रेम से मैं पागल हो गया हूँ। हाय! आप पर मेरा यह अटल प्रेम असह्य है।

टि० यहाँ कवि की भक्ति अधिक दृढ प्रतीत हो रही है, जिस में वह पागल-सा हो गया है।

सख्य, दास्य एवं रति भाव यहाँ स्फुट हो रहे हैं।

कण्ठेऽर्पयत्युरगपाशमसूयया मे
यामिन्यधीशशिख यत्समये कृतान्तः।
नूनं तदा मुहुरुपैमि फणीन्द्रहार
त्वत्तुल्यतामिति भजे मरणेऽपि हर्षम्[1] **।।४४।।**

अर्थ

हे चन्द्रमौली शङ्कर! जिस समय यमराज क्रोध के कारण मेरे गले पर सर्प-पाश डालता है-डालेगा, उस समय निश्चय ही बार-बार आप की समानता प्राप्त करलूँगा, इस प्रकार हे नागेन्द्र का हार पहनने वाले शिव! मरने में भी प्रसन्नता का अनुभव करूँगा।

टि० दास कवि को उसके स्वामी से सम्बन्ध रखने वाला हर पदार्थ प्रिय है। यहाँ तक कि प्राणलेवा यम-पाश भी उसे प्रिय है क्योंकि वह शिव के आभूषण सर्प का होता है।

---

1. मिलाइये– कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमणि मे माहाभृतम्।
   अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते।
   – शिवस्तोत्रवली (उत्पलदेव कृत)

यमपाश से बद्धमान की उत्प्रेक्षा फणीन्द्रहार शिव से की गई है। अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

चित्तं न पारदमिव क्षणमुज्झतीदं
चाञ्चल्यविप्लवमयुक्तिविदः प्रभो मे।
तस्मात्कथं भवति भक्तिरसस्य सिद्धिः
कस्तां विना च भवघोरविपद्विनाशः।।४५।।

अर्थ

हे ईश्वर! (मोक्ष के) उपाय को न जानने वाले अर्थात् अज्ञानी मेरा मन पारे के समान क्षणभर भी चञ्चलता के प्रवाह को (चाञ्चल्याधिक्य को) नहीं छोड़ता है। तो भक्ति-रस की सिद्धि कैसे हो सकती है ? और उसके विना संसार रूपी भयानक विपत्ति का विनाश कैसे हो सकता है ?

टि० भक्ति तभी सम्भव है, जब मन स्थिर हो। चञ्चल मन से भक्ति नहीं होती।

इस पद्य में मन का सादृश्य पारे के साथ किया गया है। अतः उपमा अलङ्कार है।

एवं स्थिरचित्त से भक्ति होती है, भक्ति से भव रूप घोरविपत्ति का नाश होता है। इस रूप में अगले-अगले के प्रति पहली पहली वस्तु हेतु बताई गई है, अतः कारणमाला अलङ्कार है–

''परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता।
तदाकारणमाला स्यात्''

–सा० द० 10.76.

स्वामिन्ननुद्गतविवेकलवोऽकृतात्मा
तिर्यग्वदेव दिवसानतिवाहयामि।
नेता क्षणाच्च वशमन्तकसौनिको मा-
माशैव तन्मम कुतः सुगतिप्रसक्त्यै।।४६।।

अर्थ

हे प्रभो! अल्पमात्रा में भी अनुत्पन्न सत्यज्ञानवाला अपवित्रात्मा मैं पशु-पक्षियों की भाँति दिनों को व्यतीत कर रहा हूँ और क्षण भर में यमराज रूपी कसाई मुझे वश में कर लेगा तो सद्गति में आशक्ति के लिए आश ही कहाँ?

टि० कवि को दुःख है कि अज्ञानी उसनें पशु-पक्षियों की तरह केवल लौकिक विषयों का उपभोग करके जीवन यापन कर दिया। अब यमराज का सतत मय है।

यहाँ 'तिर्यग्वदेव' में उपमा है।

अन्तक पर सौनिक का आरोप होने से रूपक भी है और पद्य के द्वितीय चरण में 'द' और 'व' दो व्यञ्जनों का स्वरूपतः और क्रमशः आवृत्ति हुई है, अतः छेकानुप्रास भी है।

निर्वेद सञ्चारी भाव है।

दुःस्वप्न एष विषमो भवदुःखनामा
स्वामिन् कथं त्यजति मां विगतप्रबोधम्।
यस्मान्ममानवरतश्रुतभूरिशास्त्र-
तूर्यस्वनैरपि न शाम्यति मोहनिन्द्रा।।४७।।

अर्थ

हे नाथ! यह संसार का दुख, भीषण दुःस्वप्न है। ज्ञानहीन मुझे आप क्यों छोड रहे हैं? क्योंकि निरन्तर सुने गये बहुत से शास्त्र-रूपी तुरही (एक प्रकार का वाद्य यन्त्र) के कोलाहलों से भी मेरी मोह-निद्रा शान्त नहीं हो रही है।

टि० अज्ञान का नाश शास्त्रों का श्रवण होने पर भी मुंश्किल से होता है। इस पद्य में सांसारिक दुःख, शास्त्रों का श्रवण और मोह पर क्रमशः दुः स्वप्न, तुरही का कोलाहल और निद्रा का आरोप होने से रूपक अलङ्कार है।

दास्यरति स्थायी भाव है।

कृत्वा पापमसावपोष्यत निजः कायो न दीनो जनो-
वैवश्याल्लुठितं चिरं चरणयोः स्त्रीणं गुरूणां न तु।
लोभोऽकारि मया धने न सुकृते तेनानुतप्ये मह-
त्किं शक्यं मम तत्र कर्तुमधुना नाथ त्वमेका गतिः।।४८।।

अर्थ

पाप करके मैंने अपने इस (तुच्छ) शरीर का ही पौषण किया, दीन जनों (का पोषण) नहीं किया। विवशता के कारण चिरकाल तक स्त्रियों के पैरों में तो

मैं लोटा रहा पर गुरुओं के (पैरों में) नहीं (लोटा)। धन के सम्बन्ध में तो मैंने लोभ किया, पर अच्छे कार्य में नहीं। इसलिए, अत्यधिक सन्ताप कर रहा हूँ, हे नाथ! अब मेरे द्वारा क्या किया जा सकात है?

टि०—दीन जनों का पोषण, गुरु सेवा, सत्कार्य में प्रवृत्ति-ये सब कार्य सन्ताप कारक नहीं होते—यह भाव है। कवि को दुःख है कि वह इन सब शुभ कर्मों से विमुख रहा।

यहाँ सम्पूर्ण श्लोक में कर्मवाच्य है, पर तृतीय पाद के अन्त में (तेनानुतप्ये महत्) में कर्तृवाच्य का प्रयोग है, अतः भग्नप्रक्रमता दोष है।

प्रथम तीन पङ्क्तियों में सन्ताप के कारणों का कथन होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

दास्यभक्ति रस है।

अहं पापी पापक्षपणनिपुणः शङ्कर भवा-
न्नहं भीतो भीताभयवितरणे ते व्यसनिता।
अहं दीनो दीनोद्धरणविधिसज्जस्त्वमितर-
न्नजानेऽहं वक्तुं कुरु सकलशोच्य मयि दयाम्।।४९।।

अर्थ

हे शम्भो! मैं पापी हूँ, आप पाप का विनाश करने में निपुण हैं। मैं डरा हुआ हूँ, सन्त्रस्तों को अभय प्रदान करना आपका व्यसन (शौक) है। मैं दीन हूँ, आप दीनों के उद्धार के लिए तैयार रहते हैं—इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं जानता, सब प्रकार से शीचनीय मुझ पर दया कीजिए।

टि० शिव पापियों के पाप नाश करने वाले, भयार्तों के अभयदाता, दीनों के उद्धारक हैं—अत्यन्त दयालु हैं।

यहाँ एक ही शिव के साथ युगपत् पाप विनाश क्षमत्व आदि अनेक भाव जुड़े हैं, अतः समुच्चयालङ्कार है—**बहुनां युगपद् भावभाजां गुम्फः समुच्चयः''** कुवल०—115/1.

प्रथम पाद में एक ही स्वरूप वाले व्यजन्जनों 'प'- 'प', द्वितीय पाद में 'भ' -'त', तृतीय पाद में 'द'- 'न' की क्रमशः सकृत् आवृत्ति है, अतः छेकानुप्रास है।

कवि ने शिव को सर्व कार्य समर्थ ईश्वर के रूप में और अपने को असहाय दीन सेवक के रूप में कथन किया है, जिस से दास्यरति स्थायी भाव स्फुट हो रहा है।

इति परिहृतवान्स्वकाव्यशिल्पप्रकटनमाकुलितो भवव्यथाभिः।
व्यथित गिरिश रम्यदेवजन्मा तव पुरतो हठदैन्यतः प्रलापान्।।५०।।

अर्थ

कैलाश-पर्वत में शयन करने वाले हे शिव! रम्यदेव के पुत्र ने (मैंने) आप के सम्मुख हठ और दीनता के कारण विलाप किये। इस प्रकार संसार के कष्टों से व्याकुल हुए, मैंने अपने काव्य-कला के प्रकट को पूरा किया।

एतत्तीव्रं व्रतमुपचितं सैकते सिद्धसिन्धो-
र्वाराणस्यां शमदमदृशोरेष गाढोऽनुबन्धः।
दीनाक्रन्दं प्रति पशुपतेरुद्यमश्चाटुकानि
त्यक्त्वा राज्ञां बत मम शुभैस्तन्यते धन्यतेऽयम्।।५१।।

अर्थ

इस (काव्यरचना रूपी) तीव्र व्रत को मैंने वारणसी में सिद्धनदी के रेतीले तट पर किया। शान्तिमय एवं वाह्य विषयों में न जाने वाली दृष्टि वालों को इसमें गाढ अनुराग रहता है।

मेरा यह (स्तोत्र रचनारूप) प्रयास राजाओं की चाटुकारिता को छोड़कर पशुपति शिव से दीन-विलाप के प्रति है। यह मेरे लिए कल्याणमय है, यह धन्य है।

अभ्रंशे जन्म वंशे सुमहति विहतो वाङ्मयाब्धौ हनूम-
त्संरम्भो दानभोगौ तदनु च रचितौ किञ्चिदौचित्यरीत्या।
ज्ञात्वा तत्त्वं यतित्वं श्रितमथ मथिता संसृतिर्दुर्निवारा
वाराणस्यां प्रसन्ना स्थितिरिति कृतिनः किं न मे नाम सिद्धम्।।५२।।

अर्थ

स्थिर अर्थात् मर्यादित वंश में जन्म (हुआ)। अति विस्तृत साहित्यरूपी सागर में हनूमान् के समान उत्साह किया। उसके बाद कुछ उचित ढंग से दान और भोग किए। तदनन्तर (संसार की) वास्तविकता को समझ कर सन्यास धारण किया और दुर्निवारणीय संसार को मथ दिया अर्थात् सांसारिक विषय जाल को तोड़ दिया। और वाराणसी में सुखमय निवास है, इस प्रकार भाग्यशाली मेरे लिए क्या नहीं सिद्ध है ? अर्थात् मैंने सब कुछ पाया है।

यहाँ 'वाङ्मयाब्धौ में रूपक अलङ्कार है। धृति नामक सञ्चारी भाव से परिपुष्ट शम नामक स्थायी भाव शान्त रस रूपता को प्राप्त कर रहा है।

ईर्ष्यायै परवादिनां कविकलाकान्ता यतिं मामियं

यच्चुम्बत्यधुनापि तन्मयि भवत्यब्रह्मचर्यं न किम्।

एतावत्स्खलितं क्षमस्व भगवन्भूयोऽपि तुभ्यं शपे

श्रीविश्वेश्वर देव नैव भवितास्म्यस्या रहस्यतिथिः।।५३।।

झगडालू वादियों (कवियों) की ईर्ष्या के लिए कवि की कला (कविता) रूपी यह कामिनी मुझ सन्यासी को जो चूम रही है तो क्या यह मेरे में अब्रह्मचर्य न होगा? हे प्रभो! मेरी इतनी त्रुटि को क्षमा कर दीजिए। हे विश्वेश्वर!. आप की सोगन्ध खाता हूँ कि पुनः एकान्त में इसका अतिथि नही बनूँगा—गुप्त प्रेमी नहीं होऊँगा।

टि० यहाँ कवि का अभिप्राय है कि आपके स्तुति में भी मैंने जो कविता का आश्रय लिया है, वह केवल ईर्ष्यालुओ को जलाने के लिए है।

यहाँ पूर्वार्द्ध में रूपकानुप्राणित समासोक्ति अलङ्कार है— क्योंकि यहाँ रूपक के द्वारा कवि और उसकी कविता पर क्रमशः नायक और नायिका का आरोप हुआ है।

ना सत्यव्यतिरेकतोऽक्षरमपि प्रायुङ्क्त यद् भारती
नैवान्यत्परबाधतो यदसकृत्सञ्चिन्तितं चेतसा।
ना कृत्यादितरत्र गात्रमतनोच्चेष्टां यथेष्टां च य-
त्सर्वत्रापि मया त्वमेव शरणं तत्राश्रितो धूर्जटे।।५४।।

अर्थ

जिस लोष्टक की वाणी ने कभी सत्य से भिन्न अर्थात् असत्य का प्रयोग नहीं किया, न ही बार बार दूसरों की बाधाओं के कारण अर्थात् दूसरों से बाध्य होकर मन ने सोचा अर्थात् यह काव्य रचना किसी अन्य से बार-बार बाध्य होकर मैंने नहीं की अपितु स्वेच्छा से की है। मेरे शरीर ने करणीय कर्मों (शुभकर्मों) के अतिरिक्त अन्यत्र स्वतन्त्र चेष्टा नहीं की। (इस प्रकार) त्रैलोक्य की चिन्ताओं को अपनी जटाओं में धारण करने वाले हे शिव! सब प्रकार से आप ही मेरे रक्षक हैं।

टि॰ इस पद्य से कवि की सच्चरित्रतता, सत्यनिष्ठता शिवैकनिष्ठता आदि सद्गुणों की प्रतीति होती है।

तृतीय भाग
काश्मीरक स्तोत्र काव्यानि

1. स्रग्धरास्तोत्रम्*

आचार्य सर्वज्ञमित्रविरचितम्

ओं नमो भगवत्यै आर्यतारायै

बालार्कालोकताम्रप्रवरसुरशिरश्चारुचूडामणिश्री-
सम्पत्संपर्करागानतिचिररचितालक्तकव्यक्त[1] भक्ती।
भक्त्या पादौ तवार्ये करपुटमुकुटाटोपभुग्नोत्त[2] माङ्ग-
स्तारिण्यापच्छरण्ये[3] नवनुतिकुसुमस्रग्भिरभ्यर्चयामि।।1।।
दुर्लङ्घे दुःखवह्नौ विनिपतिततनुर्दुर्भगः कांदिशीकः
किं किं मूढः करोमीत्यसकृदपि कृतारम्भवैयर्थ्यखिन्नः।
श्रुत्वा भूयः परेभ्यः क्षतनयन इव व्योम्नि चन्द्रार्कलक्ष्मी-
मालोकाशानिबद्धः परगतिगमनस्त्वां श्रये पापहन्त्रीम्।। 2।।
सर्वस्मिन् सत्त्वमार्गे ननु तव करुणा निर्विशेषं प्रवृत्ता
तन्मध्ये तद्ग्रहेण ग्रहणमुपगतं मादृशस्याप्यवश्यम्।
सामर्थ्यं चाद्वितीयं सकलजगदघध्वान्ततिग्मांशु[4] बिम्बं
दुःख्येवाहं तथापि प्रतपति धिगहो दुष्कृतं[5] दुर्विदग्धम्।। 3।।
धिग्धिग् मां मन्दभाग्यं दिवसकररुचाप्यप्रणुत्तान्धकारं
तृष्यन्तं कूलकच्छे हिमशकलशिलाशीतले हैमवत्याः।
रत्नद्वीपप्रतोल्या विपुलमणिगुहागेहगर्भे दरिद्रं
नाथीकृत्याप्यनाथं भगवति भवतीं सर्वलोकैकधात्रीम्।। 4।।

---

* यह स्तोत्र बंगाल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता द्वारा 1908 में प्रकाशित 'बुद्धस्तोत्र संग्रह' में संकलित है।

1. B. व्यक्ति।
2. B. भग्न।
3. A. स्वरण्ये।
4. B. तीग्मांशु।
5. B. दुःकृतं।

मातापि स्तन्यहेतोर्विरुवति बहुशः खेदमायाति पुत्रे
क्रोधं धत्ते पितापि प्रतिदिवसमसत्प्रार्थनासु प्रयुक्तः।
त्वं तु त्रैलोक्यवाञ्छाविपुलफलमहाकल्पवृक्षाग्रवल्ली
सर्वेभ्योऽभ्यर्थितार्थान् विसृजसि न च ते विक्रिया[1] जातु काचित्।। 5।।

यो यः क्लेशौघ[2] वह्निज्वलिततनुरहं तारणी तस्य तस्ये-
त्यात्मोपज्ञं प्रतिज्ञां कुरु मयि सफलां दुःखपातालमग्ने।
वर्धन्ते यावदन्ते पुरुषपरिभवाः प्राणिनां दुखवेगाः
सम्यक्संबुद्धयाने प्रणिधिधृतधियां[4] तावदेवानुकम्पा[5] ।। 6।।

इत्युच्चैरूर्ध्वबाहौ नदति नुतिपदव्याजमाक्रन्दनादं
नार्हत्यन्योऽप्युपेक्षां[6] जननि जनयितुं किं पुनर्यादृशी त्वम्।
त्वत्तः पश्यन् परेषामभिमतविभवप्रार्थनां प्राप्तुकामो
दह्योऽसह्येन भूयस्तरमरतिभुवा सन्ततान्तज्वरेण।। 7।।

पापी यद्यस्मि कस्मात्त्वयि मम महती बर्द्धते भक्तिरेषा
श्रुत्या[7] स्मृत्या च नाम्नाप्यपहरसि हठात्पापमेका त्वमेव।
त्यक्तव्यापारभारा तदसि मयि कथं कथ्यतां तथ्यकथ्ये
पथ्यं ग्लाने मरिष्यत्यपि विपुलकृपः किं भिषग् रोरुधीति।। 8।।

मायामात्सर्यमानप्रभृतिभिरधमैस्तुल्यकालं क्रमाच्च
स्वैर्दोषैर्वाह्यमानो मठकरभ[8] इवानेकसाधारणांशः[9]।
युष्मत्पादाब्जपूजां क्षणमपि न लभे यत्तदर्थं विशेषा-
देषा कार्पण्यदीनाक्षरपदरचना स्यान्ममाबन्ध्यकामा।। 9।।

---

1. A. विकृया।
2. A. क्लेशोघ।
3. A. आत्मोपज्ञां।
4. A. धृतिधियां।
5. A. अनुकम्पा।
6. नार्हत्यंन्योप्युपेक्षां।
7. A. श्रुत्वा।
8. B. कर।
9. B. साधारणांसः।

कल्पान्तोद्भ्रान्त[1]वातभ्रमितजलचलल्लोलकल्लोलहेला-
संक्षोभोत्[2] क्षिप्तवेलातटविकटचट[3]त्स्फोटमोट्टाट्टहासात् ।
मज्जद्भिर्भिन्ननौकैः सकरुणरुदिताक्रन्दनिस्पन्दमन्दैः
स्वच्छन्दं देवि सद्यस्त्वदभिनुतिपरैस्तीरमुत्तीर्यतेऽब्धेः[6] ।। 10 ।।

धूमभ्रान्ताभ्रगर्भोद्भवगमनगृहोत्सङ्गलिङ्ग[7]त्स्फुलिङ्ग-
स्फूर्जज्ज्वाला[8]करालज्वलनजवविशद्वेश्म[9]विश्रान्तशय्याः ।
त्वय्याबद्धप्रणामाञ्जलिपुटमुकुटा गद्गदोद्गीतयाच्ञाः[10]
प्रोद्यद्विद्युद्विलासोज्ज्वलजलदजवैराव्रियन्ते[11] क्षणेन ।। 11 ।।

दानाम्भःपूर्यमाणो[12]भयकटकटकालम्बिलोलम्ब[13]माला-
हूङ्काराहू[14]यमानप्रतिगजजनितद्वेषवह्ने[15]र्द्विपस्य ।
दन्तान्तोत्तुङ्गदोलातलतुलित[16]तनुस्त्वामनुस्मृत्य मृत्युं
प्रत्याचष्टे प्रहृष्टः पृथुशिखरशिरः[17]कोटिकोट्टोपविष्टः[18] ।। 12 ।।

---

1. कल्पान्तोत्भ्रान्त ।
2. A. संक्षोभोक्षिप्त
3. A. चटास्फोटमुकाट्टहासात् ।
4. A. मज्जत्भि ।
5. A. रुदितैःक्रन्दनिष्पन्नमन्दै ।
6. A. तेऽब्धे ।
7. A. रङ्ग
8. A. स्फूर्जज्वाला ।
9. A. विसद्वश्म ।
10. orig. यांचा ।
11. orig. वृयन्ते ।
12. A.B. पूर्युर्यमानो ।
13. A.B. पूर्युर्यमानो ।
14. A. रोलम्ब ।
15. A. ठुङ्कार ।
16. A. द्वेषवह्ने द्विपस्य
17. A. त्तुलित ।
18. B. शिषर ।
19. A. कोटोपविष्ट ।

प्रौढ़प्रासप्रहारप्रहतनरशिरःशूलवल्ल्युत्सवायां[1]
शून्याटव्यां कराग्र[2]ग्रहविलसदसिस्फोटकस्फी[3]तदर्पान्।
दस्यून् दास्ये नियुङ्क्ते[4] सभृकुटिकुटिलभ्रूकटाक्षेक्षिताक्षां-
श्चिन्तालेखन्यखिन्नस्फुटलिखितपदं नाम धाम श्रियां ते।। 13।।
वज्रक्रूरप्रहारप्रखरनख[5]मुखोत्खातमत्तेभकुम्भ-
श्चोतत्सान्द्रास्रधौतस्फुटविकटसटा सङ्कटस्कन्धसन्धिः[6]।
क्रुध्यन्ना[7]पित्सुरारादुपरिमृगरिपुस्तीक्ष्णदंष्ट्रोत्कटास्य-
स्त्रस्यन्नावृत्य याति त्वदुचितरचितस्तोत्रदिग्धार्थवाचः[8]।। 14।।
धूमावर्त्तान्धकाराकृतिविकृतफणिस्फारफुत्कारपूर-
व्यापारव्यात्तवक्त्रस्फुरदुरुरसनारज्जुकीनाशपाशैः।
पापात्सम्भूय भूयस्तवगुणगणनातत्परस्त्वत्परात्मा
धत्ते मत्तालिमालाबलवकुवलयस्रग्विभूषां विभूतिम्।। 15।।
भर्तृभ्रूभेदभीतोद्भटकटकभटा[9]कृष्टदुःश्लिष्टकेश-
श्चञ्चद्वा[10]चाटचेटोत्कटरटितकटु[11]ग्रन्थिपाशोपगूढः।
क्षुत्तृट्क्षामोष्ठकण्ठस्त्यजति स सपदि व्यापदं तां दुरन्तां
यो यायादार्यताराचरणशरणतां स्निग्धबन्धूज्झितोऽपि।। 16।।

---

1. A. शूलल्युत्सबायां।
2. B. omits one ग्र
3. B. स्फीट
4. A. नियत्ते।
5. A. णख।
6. A. सधिः।
7. A. क्रुध्येन्ना।
8. A. ष्टोत्रदृग्धार्थवाचः।
9. A. भीतोत्भट।
10. A. चञ्चद।
11. A. पटु।

मायानिर्माणकर्मक्रमकृतविकृतानेकनेपथ्यमिथ्या-
रूपारम्भानुरूपप्रहरणकिरणाडम्बरोड्डामराणि।[1]
त्वत्तन्त्रोद्धार्यमन्त्रस्मृतिहृतदुरितस्यावहन्त्यप्रधृष्यां
प्रेतप्रोतान्त्रतन्त्रीनिचयविरचितस्रञ्जि रक्षांसि रक्षाम्[2] ।। 17 ।।

गर्ज[3]ज्जीमूतमूर्त्तित्रिमदमदनदीबद्धधारान्धकारे
बिद्युद्द्योतायमानप्रहरणकिरणे निष्पतद्[4]वाणवर्षे।
रुद्धःसङ्ग्रामकाले प्रबलभूजबलैर्विद्विषद्भिर्द्विषद्भि[5]-
स्त्वद्दत्तोत्साहपुष्टिः प्रसभमरिमहीमेकवीरः पिनष्टि[6] ।। 18 ।।

पापाचारानुबन्धोद्धतगदविगलत्पूतिपूयास्रविस्र-
त्वङ्मांसा[7] सक्तनाड़ीमुखकुहरचलज्जन्तु[8] जग्धक्षताङ्गाः।
युष्मत्पादोपसेवागदवरगुटिकाभ्यासभक्तिप्रसक्ता
जायन्ते जातरूपप्रतिनिधिवपुषः पुण्डरीका[9] यताक्षाः ।। 19 ।।

विश्रान्तं श्रोत[10] पात्रे गुरुभि[11] रुपहृतं यस्य नाम्नायभैक्ष्यं
विद्वद्गोष्ठीषु[12] यश्च[13] श्रुतधनविरहान्मूकता[14] भ्युपैति[15] ।
सर्वालङ्कारभूषाविभवसमुदितं प्राप्य वागीश्वरत्वं
सोऽपि त्वद्भक्ति[16] शक्त्या हरति नृपसभे वादिसिंहासनानि।। 20 ।।

1. डामरो डामराणि
2. A. म्रंजि रक्षासि रक्षां।
3. A. गर्जत्।
4. A. नितपतद्।
5. A. द्विषत्भिः।
6. A. पिनस्ति।
7. A. मानुसा
8. A. गलज्जन्तु।
9. A. पुण्डरीका।
10. B. श्रोतृ।
11. A. गुरुभिरुहृतं
12. A. विद्युत्गोष्ठेषु।
13. A. यस्य।
14. A. विरहात् मूकता।
15. A. भुपत।
16. A. त्वत्भक्ति

भूशय्या[1] धूलिधूम्रः स्फुटितकटितटीकर्पटोद्घाटिताङ्गो[2]
यूकायुषि प्रपिंषन्[3] परपुटपुरतः कर्परे तर्पणार्थी।
त्वामाराध्याध्यवस्यन्[4] वरयुवतिवहच्चामरस्मेरचार्वी-
मुर्विं धत्ते मदान्धद्विपदशन[5] घनामुद्धृतैकातपत्राम्।। 21।।
सेवाकर्मान्तशिल्पप्रणयविनिमयोपायमर्यायखिन्नाः
प्राग्जन्मोपात्त[6] पुण्योपचितशुभफलं वित्तमप्राप्नुवन्तः।
दैवातिक्रामणीं त्वां कृपण[7] जनजनन्यर्थमभ्यर्थ्य भूमे-
र्भूयो निर्वान्तचामीकरनिकरनिधीन् निर्धनाः[8] प्राप्नुवन्ति।। 22।।
वृत्तिच्छेदे विलक्षः क्षतनिवसनया[9] भार्यया भर्त्स्यमानो[10]
दूरादात्मम्भरित्वात्[11] स्वजनसुतसुहृद्बन्धुभिर्वर्ज्यमानः।
त्वय्यावेद्य स्वदुःखं तुरगखुरमुखोत्खातसीम्नां गृहाणा-
मीष्टे स्वान्तःपुरस्त्रीवलयरुणरुणाजातनिद्राप्रबोधः।। 23।।
चक्रंदिक्चक्रचुम्बिस्फुरदुरुकिरणा लक्षणालङ्कृता स्त्री-
षट्दन्तो दन्तिमुख्यः[14] शिखिगलकरुचिश्यामरोमा[15] वराश्वः।
भास्वद्[16] भास्वन्मयूखो मणिरमलगुणः कोषभृत् पूर्णकोषः
सेनानीर्वीरसैन्यो भवति भगवति[17] त्वत्प्रसादांशलेशात्।। 24।।

---

1. A. भूसज्या।
2. A. कर्पटोत्घाटिताङ्गो।
3. A. यूकायुंषि प्रपिसन्।
4. A. ध्यवश्यं।
5. A. दसन।
6. A. जमोपात्त।
7. A. कृपन।
8. A. निधीनिर्धनाः।
9. A. निवसनयाः।
10. A, B. भ्रत्स्यमानो।
11. A. omits त्।
12. A. चंबि।
13. A. षट्।
14. A. omits: ।
15. A. गलकरुचिस्यामरोमा।
16. भास्वत्।
17. A. भगवती।

स्वच्छन्दं चन्दनाम्भः[1] सुरभिमणिशिलादत्तसङ्केतकान्तः
कान्ताक्रीड़ानुरागादभिनवरचिताऽऽतिथ्यतथ्योपचारः ।
त्वद्विद्यालब्धसिद्धिर्मलयमधुवनं याति विद्याधरेन्द्रः
खडगांशु[2] श्यामपीनोन्नतभुजपरिघ[3] प्रोल्लसत्पारिहार्यः[4] ।। 25 ।।

हाराक्रान्तस्तनान्ताः श्रवणकुवलयस्पर्द्धमानाऽऽयताक्ष्यो
मन्थोरोदारवेणीतरुणपरिमलामोदमाद्यद्[5] द्विरेफाः
काञ्चीनादानुबन्धोद्धत[6] तरचरणोदारमञ्जीरतूर्या-
स्त्वन्नाथान् प्रार्थयन्ते स्मरमदमुदिताः सादरा देवकन्याः[7] ।। 26 ।।

रत्नच्छन्नान्तवापीकनककमलिनीवज्रकिञ्जल्कमाला-
[8]मुन्मज्जत्पारिजातद्रुममधुपवधूद्धूतधूलीवितानाम्[9] ।
वीणावेणुप्रवीणामरपुररमणीदत्तमाधुर्यतूर्यां[10]
कृत्वा युष्मत्सपर्यामनुभवति चिरं नन्दनोद्यानयात्राम् ।। 27 ।।

कर्पूरैलालवङ्गत्वगगुरुतलद[11] क्षोदगन्धोदकायां
कान्ताकन्दर्पदर्पोत्कटकुचकुहरावर्तविश्रान्तवीच्याम् ।
मन्दाकिन्याममन्दच्छट[12] सलिल[13] सरित्क्रीडया सुन्दरीभिः
क्रीडन्ति त्वद्गतान्तः[14] करणपरिणतोत्तप्तपुण्यप्रभावाः ।। 28 ।।

---

1. A. स्वच्छन्दश्चन्दनांभः ।
2. A. खंगांशु ।
3. A. puts : after परिघ ।
4. A. omits : after पारिहार्य्य ।
5. A. मोद्यमाद्य ।
6. A. बद्धाद्धत ।
7. A. omits : ।
8. A. मुन्मत्जत् ।
9. A. मधुरमधूद्धतधूलीवितानाम् ।
10. B. तूर्य्या ।
11. A. नलद ।
12. A.B. मन्दाच्छट ।
13. A. शलिल ।
14. A. त्वत्मृतान्तः ।

गीर्वाणग्रामणीभिर्विनयभरनमन्मौ[1] लिभिर्वन्दिताङ्घ्रिः
स्वर्गोत्सङ्गेऽधिरूढः सुरकरिणि क्षणद्[2] भूषणोद्[3] भासिताङ्गे।
शच्या[4] दोर्दामदोलाविरलवलयितोद्दाम[5] रोमाञ्चमूर्तिः
पूतस्त्वद्दृष्टि[6] पातैरवति सुरमहीं हीरभिन्नप्रकोष्ठः।। 29।।
चूड़ारत्नावतंसा[7] सनगतसुगतव्योमलक्ष्मीवितानं
प्रोद्यद्बालार्ककोटीपटुतरकिरणापूर्य[8] माणत्रिलोकम्।
प्रौढालीढैकपादक्रमभरविनमद्ब्रह्मरुद्रेन्द्रविष्णुं
त्वद्रूपं भाव्यमानं भवति भवभयोच्छित्तये जन्मभाजाम्।। 30।।
पश्यन्त्येके सकोपं[9] प्रहरणकिरणोद्गूर्ण[10] दोर्दण्डखण्ड[11]-
व्याप्तव्योमान्तरालं वलयफणिफणादारुणाहार्यचर्यम्।
द्विष्टव्युत्[12] त्रासिहासोड्डमरडमरुको[13] ड्डामरास्फालवेला-
[14]वेतालोत्तालतालप्रमदमदमहाकेलिकोलाहलो[15] ग्रम्।। 31।।
केचित्त्वेकैकरोमोद्गमगतगगनाभोगभूभूतलस्थ-
स्वस्थ[16] ब्रह्मेन्द्ररुद्रप्रभृतिनरमरुत्सिद्ध[17] गन्धर्वनागम्

---

1. A. णमन्मौं।
2. A. रुणत्।
3. A. भूषणोत्।
4. A. सण्या।
5. A. बलयतोदाम।
6. A. त्वत्दृष्टि।
7. A.B. वतंशा।
8. A. पूर्य्यमान।
9. A. पश्यं ते केशकोपं।
10. A. किरणोत्गूर्ण।
11. A. षण्ड।
12. A. omits त्।
13. A. हासो डमर डमरुको।
14. A. omits वेता।
15. A. omits लो।
16. स्वस्थः would harmonise with Tibetan Version.
17. B. षिद्ध।

दिक्चक्राक्रामि[1] धामस्थितसुगतशतानान्तनिर्माणचित्रं
चित्रं त्रैलोक्यवन्द्यं स्थिरचर[2] रचिताशेषभावस्वभावम् ।। 32 ।।
लाक्षासिन्दूररागारुणतरकिरणादित्यलौहित्य[3] मेके
श्रीमत्सान्द्रेन्द्र[4] नीलोपलदलित[5] दलक्षोदनीलं तथान्ये ।
क्षीराब्धिक्षुब्धदुग्धाधिकत[6] रधवलं काञ्चनाभं च केचित्
त्वद्रूपं विश्वरूपं स्फटिकवदुपधायुक्तिभेदाद् विभिन्नम् ।। 33 ।।
सार्वज्ञ[7] ज्ञानदीपप्रकटितसकल[8] ज्ञेयतत्त्वै[9] कसाक्षी
साक्षाद्वेत्ति[10] त्वदीयां गुणगणगणनां सर्ववित् तत्सुतो वा ।
यत्तु व्यादाय वक्त्रं बलिभूजरटितं मादृशो रारटीति
व्याप[11] त्सा तीव्रदुःख[12] ज्वरजनितरुजश्चेतसो हास्य[13] हेतुः ।। 34 ।।
यन्मे विज्ञप्स्यमानं प्रथमतरमदस्त्वं विशेषेण वेत्री
तद्[14] व्याहारातिरेकश्रमविधिरबुधस्वान्तसन्तोषहेतुः ।
किन्तु स्निग्धस्य बन्धोर्विषमिव[15] पुरतो दुःखमुद्गीर्य वाचां
ज्ञातार्थस्यापि दुःखी हृदयलघुतया स्वस्थतां विन्दतीव ।। 35 ।।
कल्याणानन्दसिन्धुप्रकटशशिकले श्रीभरां देहि दृष्टिं
पुष्टिं ज्ञानोपदेशैः कुरु घनकरुणे ध्वंसय ध्वान्तमन्तः ।

1. A. क्राम ।
2. orig तर ।
3. A. लोहित्य ।
4. B. सान्द्रन्द्र ।
5. A. दलदलित ।
6. A. चिक ।
7. A.B. सार्वज्ञ ।
8. A. सकले ।
9. A. तत्वेक ।
10. A. वेति ।
11. A. व्याप्त ।
12. A. दुःखं ।
13. A. दास्य ।
14. A. त्वत् ।
15. A. बन्धोविषमिव ।

त्वत्स्तोत्राम्भःपवित्रीकृतमनसि मयि श्रेयसः स्थानमेकं
दृष्टं यस्मादमोघं जगति तवगुणस्तोत्रमात्रं[1] प्रजानाम् ॥ 36 ॥

संस्तुत्य त्वद्[2] गुणौघा[3] व्ययममनियते[4] यत्तमाप्तं मया यत्
पुण्यं पुण्यार्हवाञ्छाफलमधुररसास्वादमामुक्तिभोग्यम् ।
लोकस्तेनार्यलोकेश्वर[5]चरणतलस्वस्तिकस्वस्तिचिह्नः
महायायं प्रयायात् सुगतसुतमहीं तां सुखावेत्युपाख्याम् ॥ 37 ॥

इत्यार्यतारायाः[6] स्रग्धरा[7] स्तोत्रं परि[8]समाप्तम् ॥ [9]कृतिरियं सर्वज्ञमित्रपादानां
काश्मीरकाणां[10] ताराचरणरेणुधूसराणाम्[11] ॥

---

1. A. स्त्वत्रमात्र ।
2. A. त्वत् ।
3. A. गुणोघ ।
4. A. मणियते ।
5. A. लोकेस्वर ।
6. A. ताराभट्टरिकाय ।
7. A. श्रग्धरा ।
8. omits. परि
9. B. omits शुभम्
10. B. काश्मीरिकानां ।
11. B. ताराचरणाब्जधूसराणां ।

2. देवीशतकम्

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यकृतं[1]

देवीशतकम्।[2]

श्रीकय्यटकृतया टीकया सहितम्।

नमोऽस्तु वागधीशाय हयग्रीवाय विष्णवे।
कौमोदकी[3] चक्रशङ्खकमलाङ्कितपाणये।।
प्रणम्य परमं धाम यत्प्रसादाज्ज्वलन्त्यमी।
महामोहमहिम्नार्ता रवितारािधपानलाः।।
संचिक्षिप्सुरलं स्वबुद्धिरचितैः पर्यायशब्दैर्व्यधा-
ट्टीकां वल्लभदेव उत्तममति[4]स्मृत्यै भवानीस्तुतौ।
पर्यायैः क्रियया समं कविकृतान्पाठान्पठन्कय्यट-
श्चन्द्रादित्यतनूज इत्थमकरोत्तस्यैव नप्ता नवाम्।।

---

1. ध्वन्यालोकाद्यनेकग्रन्थकर्ता श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यः कश्मीरेषु खिस्ताब्दीयनवमशतकोत्तरभाग आसीदित्यसकृदुक्तम्। अयं देवीशतकटीकाकर्ता कय्यटोऽपि भीमगुप्तनरपतिराज्ये तत्रैव 4078 मितेषु गतकलिवर्षेषु (978 खिस्ताब्दे) टीकां प्रणीतवानिति टीकासमाप्तौ विलोकनीयम्। अयं कय्यटश्चन्द्रादित्यसूनुर्वैयाकरणकय्यटस्तु जय्यटात्मज इत्यस्मादिभिन्नः। सटीकस्य देवीशतकस्य पुस्तकद्वयमासादितमस्माभिः। तत्रैकं पुण्यपत्तनस्थराजकीयपुस्तकालयस्थं श्रीयुतभाण्डारकरपण्डितैः कृपया प्रहितमासीत्, तत्क-सञ्ज्ञकम्। अपरं कश्मीरमहाराजाश्रितैर्ज्योतिर्विदुपाह्वश्रीदयारामपण्डितैः प्रेहितम्, तत्ख-संज्ञकम।
2. यह स्तोत्र काव्यमाला के नवम गुच्छक में प्रकाशित है। इसका प्रकाशन चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी से 1987 ई. में हुआ है।
3. 'शङ्खचक्र' ख।
4. 'उन्नतमति' ख।

आनन्दवर्धनकविप्रवरप्रणीतकाव्ये किमल्पमतिना क्रियते मयैवम्।
किं वा पिपीलककुलानि न संश्रयन्ते मत्तेभदन्तपदपङ्क्तिममेयसाराम्।।
विषमेऽत्र काव्यमार्गे सुरसे वा स्खलति मामकी धिषणा।
[1]बालेय निसरणं (?) संप्राप्य शनैः शनैस्तदपि याति।।

सर्वत्र काव्यारम्भे संबन्धाभिधेयप्रयोजनानि ज्ञातव्यानि। 'सिद्धिः श्रोतृप्रवृत्तीनां संबन्धकथनाद्यतः। तस्मात्सर्वेषु शास्त्रेषु संबन्धः पूर्वमुच्यते।। सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते।।' इह तु देव्याः स्तोत्रेण सहाराध्याराधनं संबन्धः। तदीयगुणकर्माणि चेहाभिधेयानि। तदभिधानद्वारकस्य च देव्याराधनस्य दृष्टादृष्टफलभूता भोगापवर्गफलप्राप्तिः प्रयोजनम्।।

तत्रादौ कविः स्तोत्रं प्रारिप्सुः पञ्चभिः श्लोकैः कुलकं चकार—

अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम्।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम्।।1।।
नतापनीतक्लेशायाः सुरारिजनतापनी।
न तापनी तनुर्यस्यास्तुल्या नादीनतापनी।।2।।
वक्त्रपद्मा विधेर्भान्ति यया सर्गलयो दया।
या साक्षाद्या च जनितस्थितिसर्गलयोदया।।3।।
याश्रिता पावनतया यातनाच्छिदनीचया।
याचनीया धिया मायायामायासं स्तुताश्रिया।।4।।
तमांसि ध्वंसमायान्ति यस्याः स्तुत्यादरेण वः।
तस्याः सिद्ध्यै धियां मातुः कल्पन्तां पादरेणवः।।5।।
(कुलकम्)

तस्या धियां मातुः पादरेणवो वः सिद्ध्यै कल्पन्ताम्। तस्या वर्णयिष्यमाणस्वरूपाया धियां मातुः प्रज्ञाजनन्याः संबन्धिनः पादरेणवश्चरणपांसवो वो युष्माकं सिद्ध्यै समीहितसंपत्तये कल्पन्तां संपद्यन्ताम्। यां वेधा न वेद। यां देवीं वेधा ब्रह्मा न वेद न वेत्ति न जानाति। अपिशब्दोऽत्रार्थोऽवगम्यते। वेधा अपि न वेत्ति कोऽन्यो वराको ज्ञास्यतीति। यथा—'क्रोधावृतासौ क्षमते न धातुः'। धातुः प्रजापतेरपि न

1. पुस्तके 'बालेयनिसरणं संप्राप्य' इत्यस्य स्थाने त्रुटिचिह्नमस्ति।

क्षमते इत्यर्थः। किं भूतां ग्राम्। अनन्तमहिमव्याप्तविश्वाम्। अनन्तो भगवान्विष्णुस्तस्य महिमा माहात्म्यं तेन व्याप्तं पूरितं विश्वं त्रैलोक्यं यया ताम्। हरिमाहात्म्यवशेन हि भगवती जगदापूरयतीत्यागमः। अथवा अनन्तैर्बहुभिरप्रमेयैर्महिमभिर्व्याप्तं विश्वं यया ताम्। अथ च या देवी मातेव जननीव प्रणते मानवे प्रह्वे भक्ते नरे दयां घृणां भजते पोषयति। यस्या अविज्ञेयस्वरूपाया अपि भक्तैर्भक्तिसुलभत्वमुक्तं भवति। यां वेधा अपि न वेद सा भक्त्या सुलभेति स्तोत्रोद्यमे साफल्यम्।[1] ।1।।

अपरम्। यस्यास्तापनी तनुर्मानवी मूर्तिः न न तुल्या। सदृशैवेत्यर्थः। तपनस्येयं तापनी। किंभूताया देव्याः। नतापनीतक्लेशायाः। नतानां भक्तानामपनीता विनाशिताः क्लेशा रागादयो यया तादृश्याः। कीदृशी च तापनी तनुः। सुरारिजनतापनी देवशत्रुमर्दनी। सुरारिजनांस्तापयतीति तच्छीलेति। देव्यप्येवंभूतैवेति तयोस्तुल्यत्वम्। तथा अदीनतामौर्जित्यमापयति प्रापयत्यसावदीनतापिनी। उच्छ्रायप्रदा। इत्युभयोः समानम्।।2।।

यया देव्या वाग्रूपया विधेर्ब्रह्मणो वक्रपद्मा मुखनलिनानि भान्ति शोभन्ते। कीदृशाः सर्गलयः। ऋच एवालयः (भ्रमराः) ऋगालयः वेदखण्डत्रयं सह तेन वर्तत इति। या च देवी साक्षाद्दया। दयामयीत्यर्थः। तथा या च देवी जनितस्थितिसर्गलयोदया जनिता विहिताः स्थितिसर्गलयाः पालनोत्पत्तिविनाशा येनासौ जनितस्थितिसर्गलयो भगवान्विष्णुस्तत उदयो यस्याः सा। भगवच्छक्तिरेव सा देवीति भावः। अथवा जनित उत्पादितः स्थितिसर्गलयानामुदयः प्रभवो यया। ।3।।

अन्यदपि। या पावनतया पवित्रत्वेनाश्रिता सेविता। पवित्रेत्यर्थः। तथा च या देवी यातनाछित्। यातना प्राग्विहितदुष्टकर्मविपाकः। अन्यच्च अनीचया[2] अनूनया धिया प्रज्ञया मायाया आयामोऽविद्याप्रपञ्चस्तस्यायास उपपातो निवारणं तं याचनीया प्रार्थनीया। तथा श्रिया लक्ष्म्या स्तुता।।4।।

तथा यस्या देव्याः[3] स्तुत्यादरेण स्मरणाभिनिवेशेन तमांसि मोहावोधादयो ध्वंसं विनाशमायान्ति प्राप्नुवन्ति तस्या एतादृश्या धियां मातुर्धिषणानां प्रसवित्र्याः संबन्धिनः पादरेणवश्चरणरजांसि वः सिद्ध्यै कल्पन्तामिति।।5।।

ऋषीणां सादयामास या तमांसि त्रयीमयी।
पायाद्वः सा दयामाधिच्छिदं जगति बिभ्रती।।6।।

सा देवी वो युष्मान्पायाद्रक्षतात्। त्रयीमयी ऋग्यजुः सामरूपा ऋषीणां मुनीनां

1. 'इतिसाफल्यम्' क।
2. 'उत्तमया' क।
3. 'स्मृत्यादरेण' ख।

तमांस्यज्ञानानि सादयामास नाशयांबभूव। त्रय्यामुदितायामृषीणां हि तमांसि नष्टानि। तथा दयां करुणां बिभ्रती दधाना। किंभूतां दयाम्। जगति विश्वस्मिन्नाधिच्छिदं मनः पीडाविनाशिनीम्।।6।।

स्मरद्विषा या ययाचे यया चेयं विधेः क्रिया।
या चाच्युतोऽपि तुष्टाव तुष्टा वः सास्तु पार्वती।।7।।

सा पार्वती हिमवत्कन्या वो युष्माकं तुष्टा प्रसन्नास्तु भवतु। या देवी स्मरद्विषा कामशत्रुणा ययाचे प्रार्थिता। यया देव्या हेतुभूतया विधेः प्रजापतेरियं प्रत्यक्षदृश्या सृष्टिलक्षणा क्रिया सिद्धा। या चाच्युतोऽपि तुष्टाव। हरिहरहिरण्यगर्भादिभिः स्तुतेत्यर्थः।।7।।

या दमावनयागेन स्वाराधा नयसारया।
हरिकैतवहास्याय सायामा विजिता यया।।8।।

प्रतिलोमानुलोमत एवायं द्वितीयः श्लोकः—

यायताजिविमाया सा यस्या हा बत कैरिह।
या रसायनधारा स्वा न गेयानवमा दया।।9।।
सा बुद्धिरुतमालोकः सतामार्या पुनातु वः।
यद्भक्तेरुत्तमा लोकः प्राप्नोत्येष विशुद्धताम्।।10।।

(विशेषकम्)

सार्या पूज्या वो युष्मान्पुनातु पवित्रीकरोतु। या दमावनयागेन दमं उपशान्तचित्तता तेनावनं पालनं तदेव यागं इष्टिस्तेन स्वाराधा। सुखमाराध्यतेऽभिमुखीक्रियते। यया नयसारया नीतिपरया हरिकैतवहास्याय हरेरिन्द्रस्य कैतवहास्याय व्याजोपहास्याय सायामाः सविस्ताराः कृतोद्यमा विजिताः पराभूताः। अभिमानवशेन शक्रमप्युपहास्याय केचिदाक्रमन्ति तेऽप्यभिभूता ययेति भावः।।8।।

या आयताजिविमाया आयते वितते आजौ सङ्ग्रामे विमाया विगतप्रपञ्चा। स्पष्टयुद्धा विविधमायाप्रपञ्चा वा। यस्याश्च देव्याः, सा स्वा दया निजा करुणा अनवमा शोभना, हा बत कैर्वादिभिरिहास्मिञ्जगति न गेया न गातव्या। सर्वैरेव स्तुत्येत्यर्थः। हाबतशब्दौ द्वावपि विस्मये। यथा 'अहो बतासि स्पृहणीय वीर्य' इति। का च सा दया, या रसायनधारा पीयूषस्रुतिः। आह्लादकत्वात्।।9।।

अन्यच्च। सतां साधूनां बुद्धिर्धीः। कीदृशी धीः। उत्तमालोक उत्कृष्टप्रकाशः। प्रज्ञाचक्षुर्हि अतरणिशशधरदहनभासोऽपि पश्यति न चर्मचक्षुरिति।

रजस्तमोरहितप्रकाशरूपा हि या बुद्धिस्तद्देवीस्वरूपमाहुः। तथा च यद्भक्तेर्यदीयसेवनात् उत्तमा उत्खाततमाः विनाशितमोहः सन् उद्गततमा अपि वैष लोकोऽयं जनो विशुद्धतामपगतकल्मषत्वमेति प्राप्नोति।। इत्यनुलोमोत्पन्नेन श्लोकेन सह श्लोकत्रयेण विशेषमिदम्।।10।।

अयुद्ध साधुत्राणाय सामरा या संहारिणा।
खड्गेन दीप्रा देवानां सामरायासहारिणा।।11।।
चरणाघातनिहतकासरा च रणाजिरे।
रराज या नयजयैरराजसजनानता[1]।।12।।
स्रावताद्वोऽम्बिकाभ्यर्च्यनामा न न यशोऽभितः।
तनोति प्रणतो यस्या ना मान[2]नयशोभितः।।13।।

(इदमपि विशेषकम्)

साम्बिका जननी वो युष्मानवतादक्षतात्। या सामरा सदेवा सती। अथवा साम सान्त्वं राति ददाति सामरापि सती साधुत्राणाय सज्जनपरिरक्षणायारिणा शत्रुणा सममयुद्ध युद्धमकार्षीत्। कीदृशी देवी। खड्गेन करवालेन दीप्रा उज्ज्वला। कीदृक्षेण। देवानाममराणां सामरं सांग्राममेवमायासंक्लेशं हरति तच्छीलस्तेन सामरायासहारिणा। सांग्रामिकक्लेशविनाशिनेत्यर्थः।।11।।

तथा या देवी नयजयैर्नीत्युत्कर्षे रराज शुशुभे। किंभूता। रणाजिरे संग्रामाङ्गने चरणाघातनिहतकासरा पादाहतिव्यापादितमहिषासुरा। अन्यत्, अराजसजनानता। रजःप्रतिषेधाद्दूरतरे तमो निषिद्धम्। तत्सात्त्विकजनप्रणतेत्यर्थः। यथा च "अरजस्कः[3] परं पदम्"।।12।।

अपरं यस्या देव्या ना मनुष्यः प्रणतः प्रह्वो न नाभितः समन्तं कीर्तिं तनोति विस्तारयति। अपि तु तनोत्येव। स च नाभ्यर्च्यनामा पूज्याभिधानः देवी वाभ्यर्च्या नामो नमनं यस्या इति। अन्यच्च स पुमान्माननयशोभितः। माननयाभ्यामलंकृत इत्यर्थः।।13।।

संयतं याचमानेन यस्याः प्रापि द्विषा वधः।
संयतं या च मानेन युनक्ति प्रणतं जनम्।।14।।

1. 'नयन' क।
2. 'नयन' क।
3. 'अरजस्क' क।

या दमानवमानन्दपद[1] माननमानदा।
दानमानक्षमानित्यधनमानवमानिता।।15।।

(मुरजबन्धः)

सा रक्षतादपारा ते रसकृद्गौरवाधिका।
सारक्षतादपारातेरसकृद्गौरवाधिका।।16।।

(समुद्गकम्) (इदमपि विशेषकम्)

सा देवी ते रक्षतादवतात्। यस्या द्विषा शत्रुणा संयतं सङ्ग्रामं याचमानेन प्रार्थयमानेन वधं प्रापि मरणमलम्भि। या च देवी प्रणतं प्रह्वं संयतं जनं यमनियमवन्तं लोकं मानेन युनक्ति पूजया संबध्नाति।।14।।

देवी दमानवमानन्दपदम्। दमेनेन्द्रियजयेनानवमः श्रेष्ठो य आनन्द पद आनन्दस्थानम्। विद्यया हि शमसुखलाभः। किं च, आननमानदा। आननस्य मुखस्य, मानं, पूजां, श्लाघारूपां, ददाति, प्रयच्छति। निरपभ्रंशपदभाषणान्मुखं पूज्यं भवति। एवं च पद-द्वयेन प्रकाशरूपं वाग्रूपं च देव्या आगमोक्तं प्रकाशितं भवति। तथा दानमानक्षमानित्यधनमानवमानिता। दानं सत्पात्रे धनसमर्पणम्। मानं ज्ञानम्। क्षमा रोषेणापगतः। ता एवं नित्यमविनश्वरं धनं वित्तं येषां मानवानां पुंसां तैर्मानिता पूजिता। दानादिभिरेव देव्यर्चिता यथा भवति न तथा पुष्पादिभिरित्यर्थः। एष मुरजबन्धः।।15।।

सा अपारा अपर्यन्ता गौर्वाक् अबाधिका अविघातिनी रक्षतात्। सारक्षतादुत्कर्षक्षतेः। असकृत्पुनः पुनः। रसकृत् रसं रागं करोति, छिनत्ति च सा रसकृत्। अभिमतं निरीहं वा वस्तु रक्षतात्। कीदृशस्य ते। अपारातेर्निःशत्रोः। किं च, गौरवाधिका गौरवेण पूजयाधिकोत्कृष्टा। सर्वेषां गुरुरित्यर्थः। एष समुद्गकबन्धः।।16।।

अनुत्तमोहराशयो भवन्ति यामनाश्रिताः।
अनुत्तमो हराशयो यया चिरं च रञ्जितः।।17।।
अनन्तरागतापायास्तारयित्री भवापदः।
अनन्तरागतापायाः सा वो गौरी ह्रियात्क्रियाः।।18।।

(संदानितकम्)

1. 'मानन्द' क।

सा गौरी, वो युष्माकमनन्तरागतापाया: अनन्तरमविद्यमानान्तरं कृत्वा आगता: प्राप्ता अपाया विघ्ना[1] यासां ता:। [2]अनिर्ष्पन्ना एवोत्पन्नविनाशा या: क्रियाश्चेष्टा ह्रियादपहरतु। दुष्टक्रिया विनाशयत्वित्यर्थ:। यां देवीमनाश्रिता शरणं न प्राप्ता नरा अनुत्तमोहराशयोऽप्रेरिताज्ञाननिवहा अविनाशिततमसो भवन्ति संपद्यन्ते। यया गौर्या अनुत्तमोऽवि[3]द्यमानप्रधानो हराशयो महादेवचित्तं चिरं बहुकालं रञ्जित आवर्जित:। तथा, या देवी, भवापद: संसारदु:खात्। भव एवापत् भवस्येति वा। कीदृश्या भवापद:। अनन्तोऽपर्यन्तो रागताप: स्मरातिदाहो यस्यास्ततस्तारयित्री उद्धर्त्री[4]। भवापद इति, कृद्योगे कर्मणि षष्ठी। अथवा अनन्ता ये रागजनितास्तापास्तानायस्यति क्षिपतीति देवीविशेषणम्। ।17। ।18। ।

यामायासजिदासक्तशोकजालस्य[5] पातिनी।
या माता सर्वदा भक्तलोकजालस्य पालनी। ।19। ।(गोमूत्रिकाबन्ध:)[?]

सामरागमनायासं त्यक्त्वा सार्धं सुरारिभि:।
सामरा गमनायासन्नुद्यता युधि यद्गणा:। ।20। ।

सामोदयाजया शातै: शस्त्रै: शत्रौ हते यया।
सामोदया जयाशा तैर्गीर्वाणैर्गर्वतो जहे। ।21। ।

ययांयायाय्यया यूयं [6]यो योऽयं येययैयं यामु।
ययुयाय्रिययेयाय ययेऽयायाय यायुयुक्। ।22। ।

साव्याद्गौरी सदा युष्मान्सदायुष्मान्संभृद्धति।
शरणं यां नरोगच्छन्न रोगच्छन्दमेति च। ।23। ।

(पञ्चभि: कुलकम्)

सा गौरी गिरितनया युष्मान्भवत: सदा सततमव्यात्पायात्। या भक्तलोकजा-

---

1. 'विघाता' क।
2. 'अनिष्पन्नविनाशा या:', क।
3. 'विद्याप्रधानो' क।
4. 'उंद्धरन्ती' ख।
5. 'जातस्य' क।
6. 'ययो' यो' ख।
7. 'ये ये' क।
8. 'जातस्य' क।

लस्य[8] प्रणतजनसमूहस्य यामायासजित्। याममन्तककृतमायासमुपतापं जयत्यभिभवति। या माता करुणापरा सती सर्वदा सर्वकालं च भक्तानामेवासक्तशोकजालस्य पातिनी। आसक्तानि संलग्नानि शोकजानि खेदोद्भवानि यान्यालस्यानि तानि पातयति निहन्त्यवश्यमिति। भक्तलोकस्य जालं समूहस्तस्य पालनी गोप्त्री च। गोमूत्रिकाबन्धः।।19।।

तथा यद्रणा यस्याः संबन्धिनः पार्श्वकिंकराः सुरारिभिः सार्धं दैत्यैः सह युधि सङ्ग्रामे गमनायोद्यताः प्रवेष्टुं साहंकाराः सामराः सदेवाः सन्त आसन्नभूवन्। किं कृत्वा। सामरागं सान्त्वसक्तिं त्यक्त्वा परित्यज्य। किंभूतम्। अनायासमक्लेशम्।।20।।

यया चाजया जन्मरहितया सामोदया सहर्षया शत्रौ विपक्षे शातैः शस्त्रैस्तीक्ष्णैरायुधैर्हते निपातिते सति तैर्गीर्वाणैर्देवैः सामोदया जयाशा सान्त्वोद्भूता विजयाकाङ्क्षा गर्वतोभिमानाज्जहे त्यक्ता। साम्न उदयो यस्या इति सामोदया।।21।।

(यया आयाय अयि अया यूयं यः यः ऽयं येयया एय याम्।

ययुयायियया इयाय ययें अयायाय या आययुक्।।22।। इति पादानि।)

अयि जनाः, यया देव्या हेतुभूतया यूयं भवन्तः आयायाविर्भूय अया विष्णुशरणा भवत। अं भगवन्तं वासुदेवं यान्त्ययाः संपद्यध्वम्। प्रभवस्य हि हेतुर्देवीति भावः। यथा च—'गोविन्दभगिनी देवी तदन्ते तद्गतिप्रदा। भगवती' इत्यागमः। यः यः अयं लोकः यामेय यां देवीं प्राप्य ययुयायियया इयाय। ययुभिरश्वैर्याति गच्दति तच्छीलो ययुयायी सूर्यः तं ययुयायिनं यातीति ययुयायियः रविमण्डलभेदी। मुक्त इत्यर्थः। तस्य या गतिः। यानं या। 'अन्यत्रापि दृश्यते' इति क्विप्। तया ययुयायियया सूर्यमण्डलभेदिगत्या। 'क्विवन्तो धतुत्वं न जहाति' इति परिभाषावचनात् 'आतो धातोः' इत्याकारलोपे कृते रूपमेतत्। इयाय जगाम। किंभूतया गत्या। येयया अवश्यप्राप्यया यो यो जनस्तां देवीं शरणमेति स स सूर्यमण्डलभेदिगत्या गच्छति। मुच्यते इति तात्पर्यार्थः। अन्यच्च या देवी अयायाय ययें। अयो ज्ञानं दैवमनुकूलं वा कथ्यते तस्यायः अयायः। अयनमायः प्राप्तिः। तदर्थमयायाय ज्ञानप्राप्तये ययें शिश्रिये। यस्माद्देवी आययुक्। आयेन ज्ञानेन धनागमनेन वा युनक्ति संबध्नाति। अयनमायः। भावे घञ्। एय इति ईङ् आङ्पूर्वस्य ल्यपि।।22।।

तथा यां देवीं शरणं गच्छन्नरः प्रपद्यमानः पुमान्। सदायुष्मान् शोभनचिरजीवी सन् समृद्ध्यति समृद्धिं संपत्ति प्राप्नोति। रोगच्छन्दं च नैति व्याधेरनुवर्तनं च न प्राप्नोति। व्याधिवशादौषधपायी न जातु भवति। यो देवीं शरणमेति स आयुरारोग्यमैश्वर्य लभत इति वाक्यार्थः।।23।।

कृतास्पदा यया संपदघानि सुरवैरिषु।

हन्ति या वाङ्मयी दूरादघानि सुखैरिषुः।।24।।

जितानया या नताजितारसाततसारता।

न सावना नावसानयातनारिरिना तया।।25।।

(सर्वतोभद्रः)

मनोभवारातिमनोभिरामया जरामयापाकरणैकढक्षया।

मदक्षयान्निर्मलतां ददानया सदा नयास्था क्रियतां तवार्यया।।26।।

(विशेषकम्)

तव भवतस्तया आर्यया गौर्या नयस्यास्था नीत्यवस्थितिः सदा सर्वकालं क्रियतां विधीयताम्। यया देव्या सुरवैरिषु देवशत्रुषु कृतास्पदा लब्धप्रतिष्ठा संपत्समृद्धिरघानि जघ्ने हता। या च वाङ्मयी परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपा अघानि पापानि व्यसनानि वा हन्ति हिनस्ति। केन। सुरवैः साधुशब्दैः। सा च दूरहननादिषुरिवेषुः।।24।।

या जितानया अविद्यमानो नयो नीतिर्येषां ते जितायया। तथा या देवी नताजितारसाततसारता। नतानां भक्तानां आजितः सङ्ग्रामात् यस्तारस्तारणं विजयस्तत्र या सातता सविस्तारा। आततनमातत इति। सारता दृढता। बहुतरं दाढ्र्यं सा देवीत्यर्थः। न सावना न। सहावनेन रक्षणेन वर्तते इति सावना न न सावना किं तु सावनैव। भक्तानां सरक्षणा। किं च अवसानयातनारिः। अवसाने अन्तकाले या यातना दुष्कृतिविपाकास्तासामरिः शत्रुः विनाशिनी। इना स्वामिनी। सर्वतोभद्र एषः। बन्धस्तु प्रसिद्ध एव।।25।।

तया देव्या मनोभवारातिमनोभिरामया चित्तजन्मशत्रुचेतोनुकूलया त्रिनयनचित्तहारिण्या। तथा जरामयापाकरणैकदक्षया जरा पलितं आमया व्याधयस्तेषामपाकरणं तिरस्कारः विनाशनं तत्र दक्षया चतुरया। अन्यच्च मदक्षयादहंकारविघाताद्धेतोर्निर्मलतां विरजस्कत्वं ददानया वितरन्त्या प्रयच्छन्त्या।। विशेषकमिदम्।।26।।

समाययाविन्द्रहिताय या रणे समायया या न जितारिसेनया।

स मा ययाचे हरमाश्रितः स्फुटं समा यया मुग्धतया मनोज्ञता।।27।।

सा भावक्षालवर्या नुतविभवितनुर्या वलक्षावभासा

जानानस्याशयप्रा नवनलिनवनप्रायशस्याननाजा।
सातं वर्माननस्था रहसि रसिहरस्थाननर्मावतंसा
पायादक्ता रणत्रा मतनमनतमत्राणरक्ता दयापा।।28।।

(प्रतिपादं प्रतिलोमानुलोमः) (संदानितकम्)

सा देवी अक्ता व्यक्ता पायादव्यात्। येन्द्रहिताया शक्त्रश्रेयोर्थं रणं सङ्ग्रामं समाययौ समाजगाम। एवं व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी देवीत्युक्तं भवति। या समायया सकपटयारिसेनया शत्रुपृतनया न जिता नाभिभूता। अपि च मुग्धतया कृशतया युक्तः स माश्चन्द्रो हरं महादेवमाश्रितः संश्लिष्टः सन् स्फुटं नूनं यया देव्या समा तुल्या मनोज्ञता रामणीयकानि ययाचे प्रार्थयामास। तत्समलावण्येच्छश्चन्द्रः स्फुटं हरं याचते।।27।। (या च देवी) सा भावक्षालवर्या। क्षालनं क्षालः भावस्य चेतसः क्षालो नैर्मल्यं तत्र च या वर्या श्रेष्ठा। तथा नुतविभवितनुः। नुता विभविनी महाप्रभावा तनुर्मूतिर्यस्याः। वलक्षावभासा। वलक्षः शुद्धोऽवभासः प्रभा यस्याः। शुद्धप्रकाशरूपेत्यर्थः। किं च जानानस्य ज्ञानिनः आशयप्रा अभिलाषपूरणी। तथा नवनलिनवनप्रायशस्यानना। प्रत्यग्रकमलखण्डतुल्यस्तुत्यमुखी। तथा अजा जन्मरहिता। किं चाननस्था मुखगता सती सातं वर्म श्रेष्ठः कवचः। सदैव सतां वाग्रूपेण परमं संनहनं सेत्यर्थः। तथा रहसि विजने रसी रसिको योऽसौ हरः शंभुस्तस्य यानि स्थाने नर्माणि अवसरे परिहसितानि तानि अवतंसः कर्णाभरणं यस्याः सा। रणत्रा संग्रामत्रायिणी। अपरं मतनमनतमत्राणरक्ता। अतिशयेन मतमभिप्रेतं नमनं देवीप्रणामो येषां तेषां त्राणे रक्ता सक्ता। यतो दयापा। दयां करुणां पाति रक्षति आप्नोति वा। प्रणतानां दयापरेति भावः।।28।।

उपासते कृष्टिकृतोदयां यां जना सदाराधनमीहमानाः।
शंभोः प्रसिद्धा तनुतां वहन्ती गौरी हितं सा भवतां विधेयात्।।29।।

(अर्थत्रयवाची)

सा गौरी मृडानी भवतां युष्माकं हितमनुकूलं विधेयात्कुर्यात्। यां जना लोका उपासते सेवन्ते। यतः कृष्टिकृतोदयाम्। कृष्टीनां सूरीणां कृतो विहित उदय आविर्भावो यया ताम्। कीदृशा जनाः। सदा सततं सच्छोभनं वाराधनं सम्मुखीकरणं सेवामीहमानाः काङ्क्षन्तः। किंभूता देवी। शंभोः शर्वस्य तनुतां कायत्वं वहन्ती बिभ्राणा। प्रसिद्धा प्रथिता।। अथ च सा गौर्वाणी ईहितमभिमतं विधेयात्। कीदृशी। कृष्टिभिः सूरिभिः कृत उदयो विकासो यस्याः। शंभोर्ब्रह्मण अतनुतामकृशतां वहन्ती प्रसिद्धा।। तस्मिन्स्त्रीरूपेणापि सुव्यक्ता स्थिता वागिति भावः। 'शंभू ब्रह्मेश्वरौ

ज्ञेयौ'। यां जना उपासते। कीदृशाः। सतां साधूनामाराधनं चित्तग्रहणमीहमाना अभिलषन्तः।। अन्यच्च सा गौर्भूः वः ईहितं विधेयात्। यां जना उपासते अधितिष्ठन्ति। कीदृशाः। सदाराः सकलत्राः। धनं वित्तमीहमानाः प्रार्थयमानाः। कीदृशीं क्ष्माम्। कृष्टिभिः कर्षणैर्हलविलेखनैः कृत उदयः कृत्यागमः। देवी च वाङ्मयी (मही) मूर्तिरपीति वाक्यार्थः।।29।।

यां सद्य एव त्रिदशैः पुमांसः समा नमस्यन्ति सदानभोगाः।
अघानि यस्याः प्रणता विपक्षैः समानमस्यन्ति सदा नभोगाः।।30।।
यस्याः प्रभावो द्युसदां विपक्षसेना वधानन्दयिताहरस्य।
मनोम्बुजस्यावहतु श्रियै वः सेनावधानं दयिता हरस्य।।31।।

(संदानितकम्)

सा इना ईश्वरी हरस्य गिरीशस्य दयिता वल्लभा वो भवतां श्रियै लक्ष्म्यर्थमवधानं प्रयत्नमावहतु विदधातु। यां पुमांसो नराः सद्य एव प्रणतेः समनन्तरमेव त्रिदशैर्देवैः समास्तुल्या नमस्यन्ति प्रणमन्ति। किं च सदानभोगाः। सह दानेन त्यागेन भोगैर्विषयानुभवैश्च वर्तन्ते ये ते। तथा यस्या देव्याः प्रणताः प्रह्वाः नभोगा नभसि गता इति विपक्षैः शत्रुभिः समानं सहाघानि पापानि सदा सर्वकालमस्यन्ति क्षिपन्ति।।30।।

तथा यस्या देव्याः प्रभावो माहात्म्यं द्युसदां सुराणां विपक्षसेना वधनन्दयिता अरिवरूथिनीवधेन हननेनानन्दयिता परितोषयिता। किं चास्य मनोम्बुजस्य चेतः कमलस्य अहरिवाहः। विकासकत्वात्। एतद्देव्याः प्रभावस्य वा विशेषणम्।।31।।

सुरा जिता भावितदेवराजद्विपक्षमा यात रणादभीतम्।
स्वापं न वो धाम हितं न नाम सदेवसेना भवतोहितानाम्।।32।।
सुराजिता भावितदेवराजद्विपक्षमाया तरणादभीतम्।
स्वापन्नबोधामहितं ननाम सदैव सेना भवतो हितानाम्।।33।।

(महायमकम्)

सुरानिति द्वेषिजनैरभिद्रुतानुदाहरद्या स्वयमाहवोद्यता।
शिवोऽद्य तापप्रशमस्तया तव प्रशस्तया तत्त्वदृशा विधीयताम्।।34।।

(विशेषकमिदम्)

तथा देव्या प्रशस्तया मङ्गलभूतया तव भवतः अद्यास्मिन्नहनि तत्त्वदृशा सारज्ञानेन शिवः श्रेयाननुकूलः ..... मसुख इति यावत्। तापप्रशम आध्यात्मिकाधिदैविकाधि-भौतिकदोषत्रयस्य प्रशमो विनाशो विधीयतां क्रियताम्। या देवी सुरान्देवान्द्वेषिजनैः

शत्रुजनैरभिद्रुतान्पलायितान्स्वयमाहवोद्यता संग्रामसंनद्धा सती इति वक्ष्यमाण-प्रकारेणोदाहरदवोचत्। कथमित्याह—हे जिता अभिभूताः सुरा देवाः, रणात्संग्रामादभीतं निर्भयं कृत्वा यात गच्छत। मा भूद्भवतां संग्रामभयमित्यर्थः। भाविता देवराजद्विपस्य ऐरावणस्य क्षमा अशक्तता यैस्ते। अपरं वो भवतां हितं धाम अनुकूलं स्थानं न न नाम स्वापम्। सुप्रापमेवेत्यर्थः। अन्यच्च या देवसेना सह देवेन इनेन प्रभुणा च सुराजिताः सुष्टु भ्राजिता ऊहितानां तर्कितानां चित्तविषयाणां शत्रूणां मध्ये भवतः संपत् ..... समस्तश्लोकयमनान्महायमकमिदम्।।32।।33।।34।।

वक्रं बिभ्रत्युपहितचन्द्रायासं या संमोहप्रशमनसूर्याकारा।

कारानीतामरमरिमाचिक्षेप क्षेपत्यक्ता रणभुवि सा वः पायात्।।35।।

(काञ्चीयमकम्)

सा देवी वो युष्मान्पायात् या उपहितचन्द्रायासं वक्रं बिभ्रती स्वकान्त्यतिशयेनोपहितोदत्तश्चन्द्रस्य शशाङ्कस्यायासो ग्लानिर्येन तादृशं वक्रं मुखं बिभ्रती धारयन्ती। तथा संमोहो हार्दं तमस्तत्प्रशमने विनाशने सूर्याकारा भानुतुल्या। सूर्यो यथा तमोविनाशने दक्षस्तद्वद्धार्दतमोनिवृत्तये देवीत्यभिप्रायः। तथा या देवी क्षेपत्यक्ता भर्त्सनरहिता अनिन्द्याा रणभुवि आहवभूमौ कारानीतामरं बन्धनस्थापित देवं अरिं शत्रुं आचिक्षेपाजुहाव। समरार्थमाहूतवतीत्यर्थः। काञ्चीवन्मेखलावत्स्त-म्भनात्काञ्चीयमकम्। जलधरमाला नाम वृत्तम्।।35।।

हितेहितेऽस्तु ते स्तुते जिताजितामितामिता।

जयाजया जनोऽजनो यया ययाबलं बलम्।।36।।

(आवलिर्नाम यमकमिदम्)

जयाख्या देवी ते तव हितेहितेऽनुकूले चेष्टितेऽस्तु भवतु। हितं च तदीहितमिति। त्वद्धितकार्ये वर्ततामित्यर्थः। कीदृशे। हितेहिते स्तुते प्रशस्ते। कीदृशी देवी। जिताजितां लब्धजयसमरतामिता गता। तथा अमिता अपरिच्छिन्नस्वरूपा। अन्यत्, यया हेतुभूतया। जनो लोकः अलमत्यर्थं बलं ययौ जगाम लेभे। कीदृश्या यया। अजया जन्मरहितया। कीदृशो जनः। अजनः जन्मरहितः सन्। जननं जन इति कृत्वा नञ्समासः। प्राप्ततत्त्वज्ञान इत्यर्थः। मुमुक्षुर्जनस्त्वत्प्रसादान्मोक्षावाप्तिसामर्थ्यं लभत इत्युक्तं भवति।।36।।

सक्तिं वः सुकृतार्जने विदधती सत्रा यतां त्रायतां

दुर्गा दुर्ग्रहदूषितोद्धतधियामायासदा या सदा।

साधूत्साहविधानसक्तमनसां मुख्या ततां ख्याततां

संस्कृत्यैव ..... (मत्सरभरस्फीतापदां तापदाम्)।।37।।

.....आयासदा क्लेशदायिनी। तथा साधूत्साहविधाने सज्जनानामुत्साहकरणे सक्तमनसामभिनिविष्टचेतसां लोकपालानां मुख्या प्रधानम्। अन्यच्च संस्मृत्यैव स्मरणेनैव ततां विस्तीर्णां ख्याततां .....। मत्सरत (भ) रो द्वेषबाहुल्यं स एव स्फीतो विप्रलाप (?) आपद्दौर्भाग्यं येषां तेषां तापदां खेदप्रदाम्।।37।।

या मूर्तिं किमपि स्मरारिवपुषा धत्ते समायोजितां

यां दृष्ट्वैव विनाशमाप सहसा शुम्भः समायोऽजिताम्।

या नम्रैः सुरसिद्धकिंनरनरैः खेदं बिना शस्यते

सा हेतुर्भवतां त्रिलोचनवधूरश्रीविनाशस्य ते।।38।।

त्रिलोचनवधूर्हरपत्नी ते भवतः अश्रीविनाशस्यालक्ष्मीप्रतिघातस्य हेतुर्निमित्तं भवतात्मंपद्यताम्। या स्मरारिवपुषा मदनरिपुशरीरेण समायोजितां मिश्रितां मूर्तिं तनुं किमपि केनापि हेतुना धत्ते धारयति। यां चाजितामपरिभूतां शुम्भाख्यो दैत्यः समायः सप्रपञ्चोऽपि सन्दृष्ट्वैवावलोक्यैव सहसा झटित्येव विनाशं मरणमाप प्राप लेभे। तथा सुरसिद्धकिंनरनरैर्देवसिद्धगन्धर्वपुरुषैः खेदं विना आलस्यं विना शस्यते स्तूयते।।38।।

सायासायास्त्रिलोक्याः शरणमकरुणक्षुण्णदैत्यप्रवीरा

स्वैरं स्वैरंशसर्गैर्गहनतममहामोहहार्दं हरन्ती।

शस्याशस्यादधाना सकलमभिहितं भक्तिभाजः स्मृतैव

स्तादस्तादभ्रदोषा द्विषदुपशमनी सर्वतः पार्वती व।।39।।

पार्वती वो युष्माकं सर्वतः समस्ताद्दिग्देशकाद्विषदुपशमनी शत्रुमर्दिनी स्तादूभवतात्। अस्ताः क्षिप्ता विनाशिता अदभ्रा महान्तो दोशा मूर्तामूर्त ..... तथा सायासायाः सोपतापायास्त्रिलोक्या भूर्भुवः खर्लक्षणायाः शरणमभयपदस्थानम्। अन्च्चाकरुणं निर्दयं कृत्वा क्षुण्णा विनाशिता दैत्यप्रवीरा असुरप्रधाना यया सा। अपि च स्वैर्निजैरंशसर्गैरवयवप्रादुर्भावैः स्वैरं शनैः शनैः कृत्वा गहनतमो दुर्भेदो योऽसौ महान्हार्दो हृदयभवो मोहोऽविवेकस्तं हरन्ती निवारयन्ती। अन्यच्च भक्तिभाजः सेवासक्तपुंसः शस्योशस्य सम्यक्स्तुत्याभिलाषस्य सतः स्मृतैव ध्यातमात्रैव सकलमशेषमभिमतमादधाना पोषयन्ती।।39।।

सुरसुरचितचितनवनवभवभवनानादरादरायेये।

लयलयचरणौ चरणौ न न मामि नतेन नमामि न ते।।40।।

(निरन्तरावलियमकम्)

हे देवि, सुरैर्देवैः सुरचितेन शोभनरचनया चिता दृष्टा नवा अनन्यकृता नवाः स्तवा यस्याः सा सुरसुरचितचितनवनवा। तथा भवभवाः संसारसंभूता ये नानादरा बहुप्रकारभयानि तन्निवृत्त्यर्थमादरेणौत्सुक्येन या आयेया आगन्तव्या। या भवभवनानादरादरायेया यातव्या। प्रथमार्धश्लोकेन (नु) संधानम्। ते तव चरणौ पादौ लयो लीला विलासस्तस्य लयश्चरणं गमनं ययोस्तौ चरणौ नतेन नमनेन नमामि न मामि न पर्याप्तो भवामि। तृप्तिं न गच्छामीत्यर्थः।।40।।

या विस्मयं स्मरभिदा चक्रेऽङ्कारोपिता नवं नारीणाम्।

विदधे यच्चापस्य न च क्रेंकारोऽपि तानवं नारीणाम्।।41।।

या हन्तां च प्रयाता विहायसा कंसमाह तारातिबलेन।

कृष्णस्तव परमाया विहाय साकं समाहतारातिबलेन।।42।।

तां नमत या च समरेष्वनेकशो भाति भद्रकाली नतया।

ख्याति यया जनतोज्ज्वलविवेकशोभातिभद्रकालीनतया।।43।।

(कलापकम्)

तां देवीं नमत नमस्कुरुत या स्मरभिदा मदनहन्त्रा भर्त्रा हरेणाङ्कारोपितां उत्सङ्गमारोहिता सती नारीणां स्त्रीणां नवमपूर्वं विस्मयमाश्चर्यं चक्रे। तथा यच्चापस्य यदीयधनुषश्च संबन्धी केंकारोऽपि ध्वनिरप्यरीणामरातीनां तानवं क्षयं न न विदधे अपि तु चक्रे। अपरं या तारा प्रकाशरूपिणी विहायसा आकाशेन प्रयाता गता सती कृष्णो भगवान्वासुदेवस्तव भवतः हन्तां हिंसतु इत्यनेन प्रकारेण कंसाख्यं दैत्यमाहावोचत्स्म। कथमित्याह–परमाया विहाय द्विषत्कुसृतीः परित्यज्य अतिबलेन बाहुना समा हतारातिना निहतशत्रुणा बलेन भगवता संकर्षणाख्येन भ्रात्रा साकं सह। तथा या च भद्रकाली कात्यायनी समरेषु युद्धेष्वनेकशो बहुधा भाति शोभते। यया च देव्या नतया प्रणतया जनता जनसमूह उज्ज्वलविवेकशोभा प्रकृष्टज्ञानप्रभा सती अतिभद्रकालीनतया अत्यर्थमङ्गल्यसंपृक्ततया हेतुभूतया प्रशस्तया देवी भातीत्यर्थः। ख्याति प्रकाशते व्यक्तीभवतः (?) नमत इति संबन्धः।।41।।42।।43।।

तां स्मरत या स्मृतैव हि मानवतामरसमानतता राति बलात्।

यत्प्रणतं श्रीः श्रयते मानवतामरसमानतारातिबलात्।।44।।

तां देवीं स्मरत चिन्तयत। हि यस्माद्या मानवता ज्ञानिना स्मृतैव ध्यातैव सती अमरसमानता देवतुल्यत्वानि अमृतत्वादीनि राति ददाति। तथा यत्प्रणतं यस्याः प्रह्वं मानवतामरसं नरनलिनं आनतारातिबलात् आसमन्तान्नतं बन्धुरकंधरं यदरातिबलं तत्परित्यज्य इति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी तस्मादेत्य श्रीः (बलात्) श्रयते सेवते।।44।।

अनवरागसमुद्भवदेहतामुपगता ददृशे गिरिशेन या।
अनवरागसमुद्भवदेह तामवनतोऽस्मि जगत्प्रियतां सतीम्।।45।।

तां सतीं सतीसंज्ञां साध्वीं वा अवनतोऽस्मि अहं प्रणतः। कीदृशीम्। या अनवरः सर्वोत्कृष्टो योऽसावगः पर्वतस्तत्समुद्भवदेहतां तज्जातशरीरत्वमुपगता जगत्प्रियतां च प्राप्ता सती गिरिशेन महादेवेन इहास्मिञ्जगति अनवरागसमुत् अनवेन चिरंतनेन रागेण प्रेम्णा समुत् सहर्षा ददृशे दृष्टा। तथा च कालिदासः–'सती सतीयोगविसृष्टदेहा' इति तथा भवदां भवं संसारं द्यति खण्डयति।।45।।

मेने नूनमनेन माननमुमानाम्ना न मेनोन्मना
नुन्नेनोनमने निमानममुना नो नाम नानानुमे।
मौनेनाममानननिम्नमननान्नानामिनानूनिमे
मुन्मिन्नाननमा नमी मुनिमनोमानाननोन्नामिनि।।46।। (द्व्यक्षरः)

हे नुन्नेनोनमने देवि, नुन्नं प्रेरितं यदेनः पापं तदेव नमनं प्रणतिर्यस्याः। पापघातिनी यस्याः सेवेत्यर्थः। तामाहूय तुभ्यमित्यर्थादभ्यूह्यते तेन हे देवि, तुभ्यं नमः। वयं त्वां प्रणमाम इति भावः। तथा हे देवि, मेना हिमवन्महिला उन्मना सोत्कण्ठा सती अनेन तावकेन उमानाम्ना उमेति संज्ञया नूनं निश्चितं माननं पूजनं मे जज्ञे बुधे। नु वितर्के। हे नानानुमे, नानाविधा अनुमाः संज्ञा यस्या इत्यनुमा अनेन च नाम्ना नो नाम निमानं न पर्याप्तिः। नामशब्दोऽभ्युपगमे। एकेनोमानाम्ना कतमा पूजा भवेदित्यर्थः। तथा मौनेन तपसा पूताद्युपलक्षणोऽत्र मौनशब्दः। नियमेत्र भावः। अमममाननिम्नमननन्नानामिनानूमिमे मममानं ममताज्ञानमहंकारस्तेन निम्नमल्पीभूतं मममाननिम्नम् नञ्समासे कृते अमममाननिम्नं यन्मननं ज्ञानं तदेवान्नं शरीरवृत्तिर्येषां तपसानहंकारज्ञानवृत्तीनाम् इनानूनिमे ऊनस्य भाव ऊनिमा न ऊनिमा अनूनिमा। इनादादित्यादनूनिमा यस्या। टाबन्ताया आह्वानं इनानूनिमे सूर्यसमाने। तथा हे मुन्मिन्नाननमाः मुदा हर्षेण मिन्नः स्निग्ध आननमा मुखचन्द्रो यस्याः। हे आनन्दमयीत्यर्थः। अन्यच्च हे मुनिमनोमानाननोन्नामः तदस्या अस्ति शीलं वेति तन्नामिनी। मुनिमनसामेषा ज्ञानमाप्याययतीति भावः। तस्य आह्वानमिति संबन्धः।।46।।

तां वन्देऽहं नवं देहं ज्ञानरूपं विधाय या।
सुधीरस्यति धीरस्य महामोहमयीं त्वचम्।।47।।

तां देवीमहं वन्दे प्रणतोऽस्मि या धीरस्य विषयानपहृतस्य सुधीः शोभनबुद्धिरूपा सती ज्ञानरूपं बोधमयं नवं प्रत्यग्रं देहं शरीरं विधाय निर्माय महामोहमयीं महदज्ञानरूपां त्वचं कृत्तिमस्यति क्षिपति नाशयति।।47।।

यां नुत्वा यान्ति हृद्यार्थसज्जायां गिरि शंस्यताम्।
नौम्यहं भक्तिमास्थाय सज्जायां गिरिशस्य ताम्।।48।।

तां गिरिशस्य जायां हरस्य पत्नीं अहमस्मि भक्तिमास्थाय सेवां पुरस्कृत्य सत् शोभनं कृत्वां वाङ्मनः कायैरिति नौमि स्तौमि। यां देवीं नुत्वा प्रणम्य हृद्यार्थसज्जायां मनोहरवस्तुप्रवणायां वाचि शस्यतां यान्ति प्रशंसां लभन्ते।।48।।

यदानतोऽयदानतो न यात्ययं नयात्ययम्।
शिवे हितां शिवेहितां स्मरामितां स्मरामि ताम्।।49।।

तां देवीं स्मरेण कामेनामितामपरिच्छिन्नामनभिभूतां स्मरामि चिन्तयामि ध्याये। यदानतो यस्याः प्रणतः पुमान् अयदानतोऽयो दैवमनुकूलं तस्य दानं क्षयः। दीङ् आते (धातोः ?) रूपम्। अतोऽयदानतो हेतोर्नयात्ययं नीतिविघातं न याति न गच्छति। कीदृशीं देवीम्। शिवे शंकरे हितामनुकूलाम्। तथा शिवं श्रेयः प्रदमीहितं यस्यास्ताम्।।49।।

सर स्वतिप्रसादं मे स्थिति चित्तसरस्वति।
सरस्वति कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्रसरस्वति।।50।।

हे सरस्वत्याख्ये देवि, स्वतिप्रसादं सुष्टु अतिशयेन च प्रसादं सर गच्छ। स्वतिशब्दौ सुतरामर्थे। तथा मे चित्तसरस्वति चित्तमेव सरस्वान्समुद्रस्तत्र मनः समुद्रे स्थितिं पदं कुरु विधत्स्व। क्षेत्रं शरीरं तदेव कुरुक्षेत्रसंज्ञं पुण्यस्थानं तत्र नित्यावस्थानात्सरस्वती नदीव सरस्वती। तस्या आमन्त्रणम्। शरीरे नित्योदितवाग्रूपतया स्थितेति भावः।।50।।

त्वद्भक्तिभावितधियो जगतामत्र ये त्रये।
जन्मवत्तामहं मन्ये तेषामेवानृणां नृणाम्।।51।। (विरोधाभासः)

हे देवि, ये नरास्त्वद्भक्तिभावितधियस्त्वत्सेवाधिवासितधिषणा अत्रास्मिञ्जगति जगतां विष्टपानां त्रये त्रैलोक्ये ये सन्ति तेषामेव जन्मवत्तां सजन्मत्वमनृणां विनष्टऋणत्रयामहं मन्ये। अस्मिञ्जगति ऋषिपितृदेवानां ब्रह्मचर्यप्रजाज्ञैर्यदानृण्यं

तद्देवीभक्त्या भवतीति भावः। अत्रये त्रये, अनृणां नृणां इति विरोधाभासित्वम्। ।51।।

जगतः सातिरेका त्वं गतिरस्य स्थिराधिका।

तरस्यत्रासतारारेः सास्यत्रासरसस्थिति।।52।। (अर्धभ्रमोऽयम्)

हे देवि, त्वमस्य जगतस्त्रैलोक्यस्य सतिरेका सातिशया गतिः परायणम्। शरणमित्यर्थः। कीदृशी। स्थिरानपायिनी। अथाधिका सर्वेषां गरीयसीति भावः। तथात्रास्मिञ्जगति असतारा सती अरेर्मोहात्तरसि। सह तारेण वर्तत इति सतारा। न सतारा असतारा। अनायासेन मोहं नाशयसीत्यर्थः। कथम्। अत्रासरसस्थिति कृत्वा। त्रासरसे अभिनिवेशे स्थितिः स्थानं न विद्यते यस्मिन्। सर्वतोभद्रापेक्षयार्धभ्रमणादर्धभ्रमः कथ्यते।।52।।

त्वन्नामस्मरणादेव न लक्ष्मीश्चपलायते।

सर्वतः पार्वति क्षिप्रमलक्ष्मीश्च पलायते।।53।।

हे पार्वति गिरिजे, त्वन्नामस्मरणाद्भावत्कसंज्ञाचिन्तनादेव लक्ष्मीः श्रीर्न चपलायते चपलत्वं नाचरति। न चलतीत्यर्थः। तथा क्षिप्रं त्वरितं सर्वतो दशदिक्कं सर्वपदार्थेभ्योऽलक्ष्मीर्दौर्भाग्यं पलायते दूरीभवति।।53।।

जयन्ति भक्ता वित्तेशसमरायस्तवाहवे।

तुभ्यं नमस्त्रिलोक्यर्थसमरायस्तबाहवे।।54।।

हे देवि, तव भवत्याः संबन्धिनो भक्ताः सेवका आहवे संग्रामे जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। परानभिभूयेत्यर्थः। कीदृशा भक्ताः। वित्तेशेन वैश्रवणेन समस्तुल्यो रा धनं येषां ते वित्तेशसमरायः। तस्मात्तुभ्यं भवत्यै नमः। कीदृशे। त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तदर्थं त्रिलोकीरक्षणार्थं यः समरो यद्युद्धं तत्रायस्ता आ समन्तात्सयत्ना व्यापृता बाहवो भुजा यस्या इति।।54।।

सत्त्वं सम्यक्त्वमुन्मील्य हृदि भासि विराजसे।

द्विषामरीणां त्वं सेनां वाहिनीमुदकम्पयः।।55।। (पुनरुक्तवदाभासः)

हे देवि, विराजसे विगतरजोविकारे हृदि हृदये त्वं भासि शोभसे। किं कृत्वा। सम्यग्विधिवत्सत्त्वं चेतोगुणमुन्मील्य प्रकटीकृत्य। तथा द्विषां शत्रूणां संबन्धिनीं वाहिनीं चमूमरीणां सारवतीं सेनां सेश्वरां त्वमुदकम्पयः कम्पयांचकार कम्पितवती। भासि विराजसे, द्विषामरीणाम्, सेनां वाहिनीम्, उदकं पयः, इति पुनरुक्तभासनात्पुनरुक्तवदाभासोऽयं न तु पुनरुक्तः।।55।।

दूरागतरसा धन्यः सेवते यस्तव स्तुतीः ।

दूरागत रसाधन्यः कल्पन्ते तस्य सिद्धयः ॥56॥

हे देवि, यो धन्यः पुरुषः पुण्यवांस्तव भवत्याः स्तुतीः प्रशंसाः सेवते विदधाति तस्य पुंसः सिद्धयो मनोरथा अणिमाद्या वा कल्पन्ते संपद्यन्ते। किंभूताः सिद्धयः। दूरागतरसा दूरमत्यर्थमागतो रसः सक्तिर्यासु ताः। अभिषणणीया इति यावत्। तथा दूरागो दुष्टासक्तिस्ततस्तर उत्तरणं साधयन्ति संपादयन्ति तच्छीलास्ताः ॥56॥

मोहं हत्वास्पदं यासि सात्त्वमम्ब रवासिना ।

यां न संस्तूयसे केन सा त्वम्बरवासिना ॥57॥

हे अम्ब मातः, सा त्वं वक्ष्यमाणस्वरूपा केनाम्बरवासिना द्युसदा देवेन न स्तूयसे। सर्वैरपि, देवैः स्तूयस इति भावः। सा त्वं का। यां भवती रवासिना अनाहतखड्गेन मोहमज्ञानं हत्वा विनाश्य प्रकाशात्मकसत्त्वगुणमयमास्पदं स्वकीयं प्रकाशस्थानं यासीत्यर्थः। तथा चोक्तम्—'अनाहते पात्रकर्णे भग्नशब्दे सरिदुदुते (?)। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' ॥57॥

प्रकाश्य गृह्यपुंसस्यखेदच्छेदाम्बुदावली ।

प्रज्ञात्मनेनविमला स्थिता दृश्यसि विद्वताम् ॥58॥ (अपशब्दाभासः)

हे देवि, असि त्वम्। विद्वतां वेदनं वित् ज्ञानं विद्यते येषां तेषां संबन्धिन्यां दृशि, बुद्धौ, प्रज्ञात्मना ज्ञानरूपेण विवेकात्मना, प्रकाश्य, प्रकटीकृत्वा इनविमला आदित्यरूपा तिष्ठसीत्यर्थः। कीदृशी त्वम्। गृह्यास्त्वत्सेवोद्यता ये पुमांसस्त एव सस्यं शालिस्तस्य खेद आयासस्तस्य च्छेदे विनाशेऽम्बुदावलीत्यर्थः। गृह्य, प्रज्ञात्मनेन, दृश्यसि, विद्वताम्, इत्यप्रशब्दवदाभासनादपशब्दाभासः ॥58॥

भवानि ये निरन्तरं तव प्रणामलालसाः ।

मनस्तमोमलालसा भवन्ति नैव तु क्वचित् ॥59॥

हे भवानि शर्वभार्ये, ये जना निरन्तरमविरतं कृत्वा तव भवत्याः प्रणामलालसाः प्रणतिपरास्ते मनस्तमोमलालसा चित्तमोहकलङ्कनिःशोभा न क्वचिन्न कुत्रचिद्भवन्ति संपद्यन्ते ॥59॥

विभावनाकुला त्वयि क्रमेण देवि भावना ।

वपुष्यतिस्थिरेतरे नितान्तमेव पुष्यति ॥60॥

हे देवि, त्वयि विभौ व्यापिन्यां त्वद्विषये क्रमेण यथोक्तविधिना अनाकुला स्थिरा निश्चला भावना भक्तिः अतिस्थिरेतरे अतिशयेन स्थिरादितरे विनश्वरे वपुषि

शरीरे नितान्तमेवात्यर्थं पुष्यति पुष्टा। प्रकृष्टेत्यर्थः। अस्थिरेऽस्मिन्संसारे त्वद्भक्तिरेव सारमित्यर्थः।।60।।

महोऽदयानामवधी रणेन महोदयानामवधीरणेन।

महोदयानामव धीरणेन महोदयानामवधीरणेन।।61।। (पादाभ्यासयमकम्)

न दयन्ते रक्षन्तीत्यदया हिंस्रास्तेषामदयानां महस्तेजः रणेन संग्रामेण या त्वमहो आश्चर्यं दयानामवधीरणेन तिरस्कारेणावधीः निहतवती। निर्दयतया हिंस्रात्वं समरं महोदयानामुत्सवोत्पत्तीनामवधीरणेनावधिक्षपणेन निरवधिसुखोत्पादनेन महोदया महान्तो बृहन्त ये उदया अयो ज्ञानं दैवमनुकूलं वा। उद्गतश्चासावय उदयः। महान्त उदया येषां तेषां धीरणेनं धीरयतीति धीरणं धैर्यकर्तारमिनमीश्वरं प्रभुमव, रक्षस्व। महाज्ञानानां धैर्यकर्तारं प्रभुं पालयेति यावत्।।61।।

न मज्जनेन तीर्थानां तदिह प्राप्यते शुभम्।

नमज्जनेन तीर्थानां सेवया यत्तवाम्बिके।।62।।

हे अम्बिके मातः, तव भवत्याः संबन्धिनां तीर्थानामागमानां सेवया समाश्रयणेन नमज्जनेन प्रणतजनेन यच्छुभं फलं श्रेयः प्राप्यते लभ्यते तत्तीर्थानामृषिसेवितजलानां मज्जनेन न प्राप्यते।।62।।

प्रयाति मोहे निःसारभारतीव्रतमेत्ययम्।

त्वत्प्रसादाज्जनः सारभारतीव्रतमेत्ययम्।।63।।

हे देवि, अयं जनो लोकस्त्वत्प्रसादात्त्वदीयेन कारणेन सारभारतीव्रतं सारा प्रधाना चासौ भारती वाक् तद्व्रतं तत्परतामेति प्राप्नोति। पश्यन्तीस्वरूपं लभत इत्यर्थः। वावित्रतये हि प्रधाना पश्यन्ती। तथा चोक्तम्—'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।।' कस्मिन् समये। मोहेऽज्ञानेऽत्ययं विनाशं प्रयाति गच्छति सति। कीदृशे मोहे। निःसारभारतीव्रतमे निःसारस्य दुर्बलस्य यथा भार आयासहेतुस्तद्वत्तीव्रतमे दृढतमे। अविषयायासद इत्यर्थः।।63।।

शास्त्रप्रभावहसिताः सतां या निर्मला गिरः।

शास्त्रप्रभावहसितास्त्वमम्ब तिमिरच्छिदः।।64।।

हे अम्ब जननि, याः सतां साधूनां सूरीणां संबन्धिन्यः शास्त्रप्रभावेण पदवाक्यप्रभाणानां माहात्म्येन हसिता गिरो, वाचो निर्मला, अकलङ्की निरपशब्दास्तास्त्वं शास्त्रप्रभा आयुधदीधितयस्तिमिरच्छिदोऽन्धकारघ्न्यो वहसि, बिभर्षि धारयसि। निरपशब्दा वाचो मोहघ्न्यस्तवायुधमित्यर्थः।।64।।

शमीह ते समानतो विभावितोऽत्रसन्न यः।

विभावितोऽत्र सन्नयः शमीहते स मानतः।।65।।

हे देवि, ते तव समानतः सम्यक्प्रणतो य इह संसारेऽत्रसन्नबिभ्यन्सन् न विभौ भगवति वासुदेवाख्ये ब्रह्मणि इतः न गतः। मोक्षं न प्राप्त इति भावः। शमी जितेन्द्रियः सन् सन्नयो विद्यमाननीतिः। अत्र संसारे विभावितो लक्षितो मानतो ज्ञानाद्धेतो संश्रयत ईहते चेष्टते यः। संसारसक्ततया भगवन्तं विष्णुं न श्रितः सोऽपि त्वां प्रणतश्चेत्तद्विद्यमाननीतिः शमी च प्राप्तज्ञानो विश्वं प्राप्नोतीति भावः।।65।।

मातरं त्वा पदं सद्य आश्रितास्ते कथं जनाः।

मा तरन्त्वापदं सद्य आद्यं श्रेयः समाश्रिताः।।66।।

हे देवि, त्वां मातरमब्कां ये जना लोका आश्रितास्ते कथं केन प्रकारेण सद्यस्तत्क्षणमेव आपदं दुर्गतिं मा तरन्तु मा लङ्घयन्तु। दुःखमुत्तीर्य वर्तन्त इति भावः। त्वां कीदृशीम्। सत्पदं शोभनस्थानम्। जनाः कीदृशाः। आद्यमग्रिमं श्रेयः शिवं समाश्रिता अधितिष्ठन्तः।।66।।

भाति त्वत्तनुसंश्लेषे सत्यम्ब वपुरनुत्तरम्।

संसाराब्धौ सदाहुस्ते सत्यं वपुरनुत्तरम्।।67।।

हे अम्ब मातः, त्वत्तनुसंश्लेषे त्वत्कायसङ्गे सति पुरनुत्रिपुरारातिः शंभुर्भाति शोभते। ते तव संबन्धि च सत्सत्यं ध्रुवं वपुः पश्यन्तीवाग्रूपं शरीरं संसाराब्धौ जगज्जलधौ सत्तरं शोभनं प्लवं अनुत्तरमविद्यमानापरमाहुर्ब्रुवते। तत्त्वविद एवं गायन्तीत्यर्थः। अविधातोरम्बाशब्दसिद्धेः कथं केवलौष्ठ्यतया मकारः परमवर्णः (?) दन्त्वोष्ठयोर्द्वयोरपीति यमकस्याभङ्गः।।67।।

यच्छ मे नित्यसंसङ्गि यच्छमे तदिदं मनः।

स्वच्छलो भक्तियोगस्ते स्वच्छलो कविवेकसूः।।68।।

हे देवि, यत् शमे विषयाणामसंगे मनश्चेतो नित्यसंङ्गि सततानुरक्तं तदिदं तथाविधमेतन्मे मम यच्छ देहि। यतस्ते तव संबन्धी यो भक्तियोगः सेवासङ्गः स स्वच्छलः सुष्ठु अविद्यमानच्छलो निच्छिद्रः सन् स्वच्छं निर्मलं लोकानां जनानां लोकयोर्वा इहामुत्र च विवेकं प्रकृतिपुरुषोत्तमोत्कर्षं सूते जनयति। अत एव इहात्र परत्र च स्वच्छता।।68।।

के वलन्ते वितन्वन्तकृतस्त्वत्प्रणता भवे।

केवलं ते वितन्वन्त आसते विमलां धियम्।।69।।

हे देवि, त्वत्प्रणतास्त्वत्प्रह्वा जना वितन्वन्तकृतः वितनोरनङ्गस्यान्तकृतो विनाशकारिणो भवे संसारे के वलन्ते के आविर्भन्ति। त्वत्प्रणता जितकामा विमुच्यन्त इति भावः। ते केवलमनन्यव्यापारा सन्तो निर्मलाममोहां धियं बुद्धिं वितन्वन्तो विस्तारयन्त आसते तिष्ठन्ति। यावत्संसारस्तावद्विमोहः। भूयश्च त्वत्प्रणता भवे न निवर्तन्ते।।69।।

देवि निर्दग्धकामस्य त्वं निरावरणात्मनः।
दरस्य शुधसंतानं तेनासौ भ्राजते तथा।।70।।

हे देवि, त्वं हरस्य गिरिवरतनयाधवस्य शिवस्य निर्दग्धकामस्य भस्मीभावितमीनकतनस्य तथा निरावरणात्मनः निर्गतमावरणं परिधानमात्मनो यस्य आशाम्बरस्य दिग्वाससः शुभसंतानं पुण्यप्रतानं श्रेयोविस्तारस्तेन कारणेनासौ हरस्तथा माहात्म्ययुक्तो भ्राजते शोभते। अत्र च क्रियां प्रत्याकाङ्क्षैव नास्ति। विमृश्यमानश्चार्थो नान्वयः (?) एवं क्रियाया अभावात् शुभसंतानमिति द्वितीयानुपपत्तेस्त्वमिति प्रथमाया असामानाधिकरणाच्च एतत्प्रतीयमानार्थसंबन्धिनी क्रिया गोपिता भवति। अत्रैव च व्याख्यानाल्लभ्यते। तदा चान्वयो भवति।—यथा देवि, निर्दग्धकामस्य निरभिलापस्य तथा निरावरणात्मनः प्रक्षीणक्लेशजालस्वभावस्य यतस्त्वमशुभसंतानमावरणसंततिं हरसि निवारयसि तेनाशुभसंतानहरणेनासौ तथा भ्राजते दीप्यते।।70।।

द्विषद्भिया सपदि विमुच्यते यतस्तवानतो जननि जयाशया न कः।
स्तवानतो जननिजया शयानकः करोति ते युधि मधुसूदनस्वसः।।71।।

हे मधुमथनभगिनि कात्यायनि जननि मातः, अतोऽस्माद्वक्ष्यमाणाद्धेतोः कः पुमान् युधि संग्रामे जयाशयारिपरिभवाभिलाषेण स्तवान्स्तुतीर्न करोति न विदधाति। सर्वलोको जिगीषुस्तव स्तुतीर्विरचयतीत्यर्थः। यतो यस्मात्कारणात्तव भक्त्या आनतः प्रह्वः जननिजय लोकात्मीयया द्विषद्भिया शत्रुभीत्या कर्त्र्या शयानकोऽपि निरुद्यमोऽपि सपदि तत्क्षणमेव प्रणामानन्तरमेव विमुच्यते त्यज्यते ततो हेतोरिति संबन्धः।।71।।

ज्यायोनिष्ठारिवर्याधिनियमनवरस्वैरदत्तायताज्ञा
स्वाराधत्वासमध्यानियजनजननि ज्ञेयसुस्थावभासा।
नानापुण्यागमस्था जननमनमयज्ञाननन्द्या वरा धी-
र्याता नव्या विभुत्वं नुतसरलमनस्तामसस्यावहास्ये।।72।।

प्रतिलोमानुलोमतयात एवाय द्वितीयश्लोकाः—

स्येहाव स्या समस्तानमलरसतनु त्वं भुवि व्यानतार्या
धीरा वन्द्या न न ज्ञा यमनमननजस्थामगण्या पुनाना।

सा भावस्था सुयज्ञेऽनिनजनजयनि ध्यामसत्त्वाधरास्वा

ज्ञातायत्तादरस्वैरवनमयनिधिर्या वरिष्ठानियोज्या ॥73॥

(अनेन सह संदानितकम्)

हे देवि, स्या समस्तानव। स्येति त्यदो रूपं सत्वे कृते। तेन स्या त्वं सा भवती इहास्मिञ्जगति समस्तान्समग्रानव रक्ष। या त्वमित्थंभूता ज्यायसां जगच्छ्रेष्ठानां निष्ठा परा कोटिः। तथारिवर्याणां शत्रुप्रधानानां आधीनां मनः पीडानां च नियमनाय निवारणाय वरस्याङ्गीकारस्य स्वैरं स्वातन्त्र्येण दत्ता वितीर्णा आयता दीर्घा अविनाशिनी आज्ञा शासनं यया। अथ वा दत्तं दानं यस्याः सा तथा। यताज्ञेति पृथगुक्तिः। स्वाराधत्वेत्यादि। स्वाराधत्वेन सुखसेव्यतया समानि स्वप्रतिमानि ध्यायिनां योगिनां यानि यजनानि यानां (?) तानि जनयति या तस्या आमन्त्रणम्। ज्ञेये ज्ञातव्येऽर्थे सुस्थो निश्चलोऽवभासः प्रकाशो यस्याः सा ज्ञेयसुस्थावभासा। तथा नानापुण्यागमस्था नानाविधेषु बहुप्रकारेषु पुण्यागमेषु धर्मशास्त्रेषु तिष्ठसि त्वम्। तथा जननमनमयज्ञाननन्द्या जनानां नमनमयं प्रणाममयं त्वत्प्रणामादागतं यज्ज्ञानं तेन नन्द्या। विद्यारूपा सती नन्दनीयेत्यर्थः। वरा श्रेष्ठा धीश्च त्वम्। तथा नुतसरलमनः नुतेन स्तवेन सरलं मनश्चेतो यस्यास्तादृशि देवि। तम एव तामसम्। प्रशादित्वात्स्वार्थेणः। तस्य तामसस्य मोहस्यावहास्ये, त्वं विमुखमीशत्वं याता गता नव्या स्तव्या। अपरं हे अमलरसतनु। अविद्यमानो मलरस आवरणं रागस्तनौ शरीरे यस्याः तस्या आहूतिः। त्वं भवती भुवि भूमौ व्यानता विधिवन्नमस्कृता। अर्या स्वामिनी। धीरा धैर्ययुक्ता। वन्द्या प्रणम्या। न न ज्ञा अपि तु ज्ञा सर्वदर्शिनी। यमनमननजस्थामगण्या च। यमेन अहिंसास्तेयसत्यब्रह्मचर्यापरिग्रहादिविधिना, तथा मननेन ज्ञानेन जातं यत्स्थाम बलं तेन गण्या परिच्छेद्या। तथा पुनाना पवित्रीकुर्वाणा च सती हे सुयज्ञे शोभनयजने। तथा अनिनजनजयनि अनीश्वरलोकपरि भवकारिणि। सा एवं प्रकारा आयत्तादरस्वैः आयत्तो वश्योदरोऽभयः स्व आत्मा येषां तैः भावस्था आशयस्था ज्ञाता बुद्धा। तथा ध्यामसत्त्वाधरास्वा ध्यामानां धूसराणां तमोमयानां सत्त्वाधरा ... आत्मीया। अवनमयविधिः पालनमयं विधानम्। तथा वरिष्ठा श्रेष्ठा। अनियोज्या न केनचित्प्रेर्यते स्वतन्त्रेति भावः ॥72॥73॥

अलोककमले चित्तललामकमलालये।

पाहि, चण्डि, महामोहभङ्गभीमबलामले ॥74॥ (भाषाषट्कसमावेशः)

हे देवि चण्डि, पाहि रक्ष। अलोला अचपलापि त्वं कमला लक्ष्मीः अलोलकमला। तादृशि। तथा चित्तमेव ललामकमलं प्रधानपद्मं तदेवालयः कुलायो यस्याः। तथा महामोहस्य जन्मलक्षाव्यस्ताया अविद्याया भङ्गे विनाशे भीममुग्रं बलं सामर्थ्यं

यत्ते नामलेऽकलङ्के ! अमलज्ञानरूपिणी सती अज्ञानं निहंसीति भावः। संस्कृतमहाराष्ट्रपिशाचमागधसूरसेनापभ्रंशात्मिकाः षडपि भाषा अत्र समाविष्टा यदा तदा भाषाषट्कसमावेशोऽयम्। षण्णामपि भाषाणां साधारणा (?) न भिद्यन्त इति वाक्यार्थः ।।74।।

दुर्गापि मातः सुलभासि भक्त्या भवानुकूलापि भवं क्षिणोषि।
अध्येयतां यासि सदैव देवि ध्येयासि चित्रं चरितं तवैतत् ।।75।।

हे देवि। तव भवत्याः संबन्धि चरितमाचारश्चित्रमाश्चर्यप्रदम्। यतः हे मातर्जननि, दुर्गापि कात्यायन्यपि अविदितपरमार्थापि भक्तया सेवया सुलभासि। तथा भवानुकूलापि हरानुरक्तापि भवं क्षिणोषि संसारं निहंसि। अपि च ध्येयापि चिन्तनीयापि सती अध्येयतां पठनीयत्वं सदैव सर्वकालं यासि गच्छसि। अपिरिह संभावनायाम्। या दुर्गा दुर्गमा सा सुलभा, या भवानुकूला सा भवघ्नी, या ध्येया सा अध्येयतां यातीत्यपिशब्देन विरुद्धवदाभासनाद्विरोधाभासोऽयम्।।75।।

महदेसुरसंधम्मे तमवसमासङ्गमागमाहरणे।
हरबहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा।।76।।

(संस्कृतमहाराष्ट्रभाषाश्लेषः)

प्रकृतत्वात्संस्कृतशब्दार्थस्तावत्—हे देवि, महदे उत्सवदायिनि मे मम सुरसंघं सुरा देवाः संधिरवधिर्यस्य तम् आगमाहरणे शास्त्रार्जने समासङ्गं सम्यगासक्तिश्रद्धामव रक्ष। शास्त्रासक्तिर्देवैरपि न परित्यक्तेति भावः। यदुक्तम्—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' इति। तथा हे उमे हे अगजे, हसनं हसः सह हसेन वर्तत इति सहसा सामोदा सती अवसरे प्रसङ्गे बहुसरणमत्यन्तव्यापारं तं चित्तमोहं चेतोजाड्यं हर विनाशय। कविवैचित्र्यरचितमहाराष्ट्रभाषाशब्दार्थोऽधुना—हे हरबहु शिववधु, धम्मे धर्मे पुण्ये रसं रागं देसु देहि ददस्व विधत्स्व। तथा णेनः अस्माकं गमागमा संसारात् तमवसं तमोवशां अविद्याप्रपञ्चायत्तां आसं आशां हर छिन्धि विनाशय। मोक्षं देहीत्यर्थः। मह मम तं त्वं सरणं शरणं परायणम्। सहसा झग्त्येिव चित्तमोहं मानसमज्ञानं चित्तमोहं वा चित्रं नानाविधं मोहं मोघं विफलमर्थात्संसारं अवसरउ अपसरतु प्रयातु इतिक्रियात्रितयेन द्वितीयभाषाशब्दार्थः।।76।।

वन्द्या प्रभातसंध्येव सूर्यालोकप्रवर्तिनी।
निवर्तयसि देवि त्वं महामोहमयीं निशाम्।।77।।

हे दवि, त्वं वन्द्या प्रणम्या। सूरीणां विदुषामालोकप्रवर्तिनी प्रकाशदायिनी ज्ञानदा सती महामोहमयीमज्ञानस्वरूपं निशामविद्यां निवर्तयसि द्रावयसि। अत एव

प्रभातसंध्येव उषः प्रत्यूषयोरन्तरं यथा। सा हि संध्या सर्वेषां वन्द्या भवति तथा सूर्यालोकप्रवर्तिनी महान्धकारां निशां निवर्तयति।।77।

संवादिसारसंपत्तीसदागोरिजयेसुदे।

तवसत्तीरदे सन्तु संसारे सुसमानदे।।78।। (संस्कृतसूरसेनभाषाश्लेषः)

तत्र संस्कृतशब्दार्थस्तावत्—हे देवि, असुदे प्राणदायिनि, तव संबन्धिन्यौ द्वे सत्ते। भावावित्यर्थः। तत्रैका विद्यमानता अपरा उज्ज्वलता ते सत्ते सद्विद्यमानमागोऽपराधो येषां तेषां सागसां सापराधानामरीणां शत्रूणां जयेऽभिभवे पराभवविषये संवादिसारसंपत्ती संवादिनी ज्ञायमाना सारस्य बलस्य संपत्तिः समृद्धिर्ययोस्ते सत्ते। सापराधा अरयो यथा जनेन जीयन्ते तथा तव संनिधानमौज्ज्वल्यं च लक्ष्यत इत्यर्थः। तथा ते सत्ते द्वे भवसागरे सत्तीरदे शोभनपारप्रदे। त्वयि सत्यां त्वत्प्रभावेण वा संसारसागरादुत्तीर्यत इति भावः। तथा सुसमानमपभ्रंशमानं ददतः। अथवा सुसमं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं चतुर्दशविधे भूतसर्गे नित्योदितया समत्वेन साधारणत्वेनावस्थितं शब्दं शब्दब्रह्म ददतः। तच्च संसारसागरसमुत्तरणप्लवम्। तथा च बाह्वृची श्रुतिः—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य एतद्विदुस्त इमे समासते।।' इति। सूरसेनभाषार्थोऽधुना—हे गोरि हे गौरि, जयेसु जगत्सु त्रैलौक्यं दे ते तवसत्ती तपः प्रभावः सदा सर्वकालं संवादिसारसंपत्ती शम्बातिसारसंप्राप्तिः शम्बवद्वज्रवदति सारातिदृढा संप्राप्तिर्लाभो यस्याः सा शम्बातिसारसंप्राप्तिः। यदुक्तमरसिंहेन—'ह्रादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पविः। शतकोटिः स्वरुः शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयोः।।' इति। अनपायिनी त्वत्तपः शक्तिरित्यर्थः। कीदृशि गौरि। सत्ती रदे सत्त्वे रते चेतोविकारजयासक्ते। कीदृशे सत्त्वे। संसारे श्रेयःप्रधाने। तथा हे गौरि, सुसमानदे सुशमानते सुशमैः सुष्टुचित्तोद्रेकजयिभिरानते प्रणते। मुमुक्षवस्त्वां प्रणमन्तीति भावः। यतश्चित्तजय एव मोक्षः। यदुक्तम्—'चित्तमेव हि संसारं रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तद्विनिर्मुक्तं मोक्ष इत्यभिधीयते।।' इति।।78।।

आगममणिसुदमहिमसमसंमदकृदपरजस्सु।

किर सविभयवदितो समय उज्जलभावसहस्सु।।79।। (संस्कृतापभ्रंशश्लेषः)

द्विपथकाख्यं वृत्तम्। इहापि संस्कृतशब्दार्थस्तावत्प्रकृतत्वात्—हे देवि, अपरजःसु अपगतरजस्केषु गलितमोहेषु नृषु इतोऽस्मात्संसारादसमयेऽनवसरे आगममणिसुदमहिमसमसंमदकृत् आगमाः शास्त्राणि त एव प्रकाशकत्वान्मणय इव मणयः तथा शोभनो यो दमश्चित्तोपशमः स एव निर्वापकत्वाद्धिमं तत्संबन्धी योऽसौ

समोऽनाकुलः संमदो दर्पस्तं कृन्तति छिनत्ति यत्तत्किर उत्क्षिप। अज्ञानं विनाशयेति वाक्यार्थः। कथम्। विभयवत् सवो यज्ञोऽस्यास्तीति सवी यायजूकस्तेषां भयवद्भीतिवत्। यज्वनां यथा भयं किरसि तद्वदज्ञानं नाशयेत्यर्थः। तथा कीदृशेषु नृषु। उज्जलभावसहस्सु उद्गतो योऽसौ जलभावो जडभावो जाड्यं तत्र सहो बलं येषां तेषु। लडावेकरूपावित्याम्नायः। अथ प्राकृतापभ्रंशभाषार्थः। जस्सु पर यस्य परं केवलं आगम मणि आगमः शास्त्राणि मणि मनसि तथा सुदमहिम श्रुतमहिमा शास्त्रावबोधः, तथा सम शमः विषयनिग्रहः एते च सर्वे संमद साम्यदाः, साम्यमनाकुलत्वं ददानाः किर स वि किल सोऽपि भयवदितोसमय उज्जलभावसहस्सु भगवतीतोषमयमुज्ज्वलभावसहस्रम्। सहस्रशब्दो बाहुल्यार्थे। तदपि किल देवीपरितोषागतं निर्मलपदार्थसहस्रमित्यर्थः। देवीप्रसादविलसितं तत्तस्येति वाक्यार्थः।।79।।

अथ चक्रम्–

त्वं वादे शास्त्रसङ्गिन्यां भासि वाचि दिवौकसः।

तवादेशास्त्रसंस्काराज्जयन्ति वरदे द्विषः।।80।। (अप्रत्यभिज्ञायमकमिदम्)

हे देवि वरदेऽमिलषितदायिनि, वादे स्वपक्षपरपक्षपरिग्रहे शास्त्रसङ्गिन्यां शास्त्रसज्जायां वाचि भारत्यां त्वं भवती भासि शोभसे। तथा दिवौकसो लेखा देवास्तव भवत्याः संबन्धिन आदेशास्त्रसंस्कारान् आदेश आज्ञा तदेवास्त्रं विनाशायाभिनिर्मितं द्रव्यं तत्संस्कारात्तद्भावनाबलाद्धेतोर्द्विषः शत्रून् जयन्त्यभिभवन्ति। वादे शास्त्रसमिति पञ्चाक्षरयमनेऽप्यप्रत्यभिज्ञानादप्रत्यभिज्ञायमकमेतत्।।80।।

सदाव्याजवशिध्याताः सदात्तजपशिक्षिताः।

ददास्यजस्रं शिवताः सूदात्ताजदिशि स्थिताः।।81।।

(गोमूत्रिकाबन्धद्वयेन जालाकारबन्धसंबन्धादयं जालबन्धः)

हे देवि, अजस्रमनवरतं शिवताः श्रेयस्त्वानि ददासि प्रयच्छसि। कीदृशीः शिवताः। सदा सर्वकालमव्याजैर्निर्दम्भैर्वशिभिर्जितेन्द्रियैर्ध्याताश्चिन्तिताः। तथा सच्छोभनं कृत्वा आत्तजपैर्गृहीतमन्त्रावर्तनैः शिक्षिता अभ्यस्ताः। अन्यच्च सूदात्ताजदिशि स्थिताः सुष्ठु उदात्ता ऊर्जिताः प्रधाना या अजदिक् विष्णुस्थानं परं ब्रह्म तत्र स्थिताः। परब्रह्मण आगता इति भावः। अनन्तरप्रक्रान्ताप्रत्यभिज्ञायमकश्लोकेन सहामुना गोमूत्रिकाबन्धेन सह जालबन्धोऽयम्। केचित्त्वनेन (केवलेन) गोमूत्रिकाबन्धेन केवलेनैव जालाकृति विलिखन्ति तत्र यथानुरूपे युक्तायुक्तविचारे जालस्य प्रयोगतत्त्वविदश्चित्रकाव्यकरणकुशलाः कवयः प्रमाणम्।।81।।

हरेः स्वसारं देवि त्वा जनताश्रित्य तत्त्वतः।

वेत्ति स्वसारं देवित्वा योगेन क्षपिताशुभा।।82।।

हे देवि, जनता जनसमूहस्त्वा त्वां भगवतीं हरेः स्वसारं गोविन्दस्य भगिनीमाश्रित्य संसेव्य तत्त्वतः सत्यतः स्वसारं निजमुत्कर्षं वेत्ति जानाति। कथम्। योगेन चेतोवृत्तिनिरोधेन देवित्वा व्यवहृत्य क्षपिताशुभा विनाशितकिल्विषा। तथा च मनुः—'प्राणायामैर्हरेद्दोषान्प्रत्याहारेण संगतिम्। ध्यानेनानीश्वरान्भावान्धारणाभिश्च किल्बिषम्।। समस्तेन्द्रियवृत्तिर्हि प्राणो वायुः प्रकीर्तितः। तज्जयादिन्द्रियाण्याशु विजितानि भवन्ति हि।। प्राणस्यैव जयो योगः प्राणस्यैव जयस्तपः। प्राणस्यैव जयात्सर्वं प्राप्यते नात्र संशयः।।' इति। तथा च छान्दोग्योपनिषदि—'यथा शकुनिः सूत्रे बद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रयते एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते। प्राणनिबन्धनं हि सोम्य मनः।' तथा च बाह्वची श्रुतिः—'सप्त युंजते रथमेकचक्रमेकोऽश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभिचक्रमजरमनवद्यं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः।।' इति।।82।।

सदाप्नोति यतिर्ज्योतिस्तादृशं त्वत्प्रभावतः।

प्रभावतः समो येन कल्पते मोहनुत्तितः।।83।।

हे देवि, त्वत्प्रभावतस्त्वन्माहात्म्यात् यतिश्चतुर्थाश्रमी संयमी वा तादृशं तथाविधं सच्छोभनं ज्योतिः प्रकाशमान्तरं तेज आप्नोति लभते येन ज्योतिषा करणभूतेन हेतुना वा मोहनुत्तितो मोहविनाशाद्धेतोः प्रभा दीप्तिर्विद्यते यस्येति तस्य प्रभावतः सूर्यस्य समस्तुल्यः कल्पते समर्थो भवति। संपद्यत इत्यर्थः। एवं देव्या असकृन्नादरूपिणीत्वं प्रतिपाद्यानेन श्लोकेन बिन्दुरूपता प्रदर्शिता। परं ज्योतिर्हि बिन्दुशब्देनोच्यते। यदुक्तम्—'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।' तथा चोपनिषत्सु ज्योतिःस्थानमसकृच्चागमेषु चोक्तम्—'नेत्रयोरुभयोर्मध्ये नासावंशस्य मूलतः। हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत्।।' इति।।83।।

त्वं सद्गतिः सितापारा परा विद्योत्तितीर्षतः।

संसारादत्र चाम्ब त्वं सत्त्वं पासि विपत्तितः।।84।। (अयं गूढचतुर्थः)

हे अम्ब हे मातः, संसारादुत्तितीर्षत उत्तर्तुमिच्छोः पुंसस्त्वं सद्गतिः शोभनं परायणं शरणम्। कीदृशी। सिता निर्मला। अपारा अपर्यन्ता। परा उत्कृष्टा विद्या तत्त्वज्ञानार्थदा। अत्र संसारे सत्त्वं प्राणिनं विपत्तित आपद आर्तेस्त्वं पासि रक्षसि। चतुर्थोऽयं पादोऽत एव पादत्रयाल्लभ्यत इत्यस्य गूढचतुर्थता।।84।।

परमा या तपोवृत्तिरार्यायास्तां स्मृतिं जनाः।

परमायात पोषाय धियां शरणमादृताः।।85।।

हे जनाः पुमांसः परमत्यर्थमादृताः सादराः सन्त आर्याया देव्याः संबन्धिनीं तां स्मृतिं तत्स्मरणं शरणमायात आश्रयं श्रयध्वम्। स्मृतिं किंविधाम्। परमा प्रकृष्टा तपोवृत्तिर्नियमव्रतवर्तनम्। देव्याः स्मरणमेव परमं तप इत्यर्थः। किमर्थं धियां बुद्धीनां पोषाय वृद्धये। अष्टप्रकारा बुद्धिरिति बहुवचननिर्देशः। यदुक्तम्–'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ज्ञानं विज्ञानमूहश्चापोहो बुद्धिः स्मृताष्टधा।।' इति।।85।।

प्रवादिमतभेदेषु दृश्यस्ते महिमाश्रयः।

भान्ति त्वत्त्रिशिखस्येव शिखानामसमाश्रयः।।86।।

हे देवि, प्रवादिनां वाग्मिनां मतभेदेषु बुद्धिनानात्वेषु ते तव दृश आलोका भान्ति शोभन्ते यान्येव प्रवादिनां भिन्नानि ज्ञानानि तास्त्वदीया एव दृष्टय इति तात्पर्यार्थः। किंभूता दृशः। महिमाश्रयो माहात्म्यस्थानम्। त्वत्त्रिशिखस्येव भवत्त्रिशूलस्य यथा शिखानां कोटीनामसमा विषमास्तीक्ष्णा आश्रयो धारा भ्राजन्त एवम्। एतादृशा इत्यर्थः।।86।।

यच्चेष्टया तवे स्फीतमुदारवसु धामतः।

यच्चेतो यात्यवहितमुदा रवसुधामतः।।87।।

(गोमूत्रिकाबन्धः। संदष्टयमकम्)

हे देवि, तव भवत्याश्चेष्टया व्यापारेण श्रवणचिन्तनाध्ययनलक्षणेन इन्द्रियादिनियमेन वा। यत एषैव वागीशायाश्चेष्टा। यत उक्तम्–'मनस्युपरतं कर्यादक्षग्रामं बहिः स्थितम्। चित्तं बुद्धौ विनिक्षिप्य सा बुद्धिर्ज्ञानगोचरे।। ज्ञानभावनया कर्म कुर्याद्वा पारमार्थिकम्।' इति। अत एव तया चेष्टया स्फीतं विकसितं यच्चेतः अवहितं च सावधानं संयतं मनः अत एवोदारवसु परमनश्वरं धनं तच्चेतो मुदा हर्षेणोपलक्षितं सत् धामतो ज्योतिःस्थानान्मोक्षलक्षणात्स्थानात् रवसुधां शब्दामृतं याति प्राप्नोति। शब्दब्रह्मोदयं लभत इत्यर्थः। यदुक्तम्–'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म।' तथा चोपनिषत्सु–'एतदेवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्। एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।' गोमूत्रिकाबन्धोऽयं यमकश्च। प्रस्तारस्त्वेकदा दर्शितः।।87।।

सुरदेशस्य ते कीर्तिं मण्डनत्वं नयन्ति यैः।

वरदे शस्यते धीरैर्भवती भुवि देवता।।88।। (अर्धगोमूत्रिकाबन्धयमकम्)

हे देवि वरदे, अभिमतदायिनि, यैर्धीरैरविकृतचित्तैर्भवती त्वं भुवि भूमौ संसारे

देवता शरणं शस्यते स्तूयते ते पुमांसः कीर्तिं प्रथां सुरदेशस्य देवसदनस्य मण्डनत्वं भूषणत्वं नयन्ति प्रापयन्ति।।88।।

तत्त्वं वीतावततततुत्तत्त्वं ततवती ततः।

वित्तं वित्तव वित्तत्वं वीतावीतवतां वत।।89।। (द्वयक्षरः)

हे देवि, वित् विद्ये, वत आश्चर्यं वीतावीतवतां सांख्यानाम्। सीतसंज्ञा अवीतसंज्ञा च सांख्यानाम्। प्रधानपुरुषसद्भावावेदकादेशहेतवः ते विद्यन्ते येषाम्। ततो हेतोस्तव भवत्या वित्तत्वं धनत्वं वित्तं ज्ञानम्। सार इत्यर्थः। ते हि ज्ञानादेव मोक्षमाचक्षते। यस्मात् तत् त्वं तत्त्वं ततवती तद्भवती तत्त्वं परमार्थं परब्रह्मस्वरूपं ततवती विस्तारयन्ती। कीदृक्तत्त्वम्। वीतावततततुत् वीता विगता अवतता विस्तीर्णास्तुदो व्यथा यत्र तत्। सांख्यानां त्वमेव सर्वप्रधानमिति तात्पर्यार्थः।।89।।

तारे शरणमुद्यन्ती सुरेशरणमुद्यमैः।

त्वं दोषापासिनोदग्रस्वदोषा पासि नोदने।।90।।

(पादगोमूत्रिकाबन्धद्वयेन तूणबन्धः)

हे तारे ताराभिख्ये विमले, त्वं भवती शरणमुद्यन्ती आश्रितत्राणायोत्तिष्ठन्ती उदग्रस्वदोषा उत्कटनिजबाहुना दोषापासिना दुरितविनाशकेन उद्यमैर्व्यापारैर्नोदने प्रेरणे काले सुरेशरणं शकसंग्रामं पासि रक्षसि। पालिता देवा भवतीं शरणमेत्य पुनः संग्रामासक्ताः संपद्यन्त इति वाक्यार्थः। प्राक्तनेन 'सुरदेशस्य ते कीर्तिं, इत्यनेनार्धेन गोमूत्रिकाबन्धेन सहामुना पादेनावृत्तिगोमूत्रिकाबन्धेन तूणबन्धोऽयम्।। न्यासः।। तत्र प्रकारपञ्चकमत्र[1] व्याख्यायते।।90।।

सुमातरक्षयालोक रक्षयात्तमहामनाः।

त्वं धैर्यजननी पासि जननीतिगुणस्थितीः।।91।।

हे सुमातः, शोभनजननि, जनानां लोकानां नीतेर्नयस्य गुणानां सच्चरितानां स्थितीः स्थैर्याणि पासि आयसे। विद्याप्रसादाद्धि जानानां नीतौ गुणेषु च स्थैर्यमुत्पद्ये। शास्त्रमार्गानुल्लङ्घी व्यापारो नीतिः गुणाः क्षमादयः। कीदृशी त्वम्। अक्षयालोकरक्षया शाश्वतज्योतिस्त्राणेनात्तं गृहीतं महदुदारं मनश्चेतो यया। अविनाशप्रकाशरूपिणीत्यर्थः। तथा च धैर्यजनकीं धैर्यस्यानाकुलताया उत्पत्तिः।।91।।

ख्यातिकल्पनदक्षैका त्वं सामर्ग्यजुषामितः।

सदा सरक्षसांमुख्यदानवानामसुस्थितिः।।92।। (रेफविवर्तितकोऽयम्)

---

1. 'प्रकारपञ्चकं म्लिष्टत्वात्र लिखितम्' इति पुस्तकान्तरे।

हे देवि, त्वं भवती इतोऽस्मिञ्जगति अनवानामकृतानां सामर्ग्यजुषां त्रयाणां वेदानामसुस्थितिः प्राणरूपा सती। वेदानां हि वागीशी प्राणरूपा जनानां च। तथा च वाह्वृची श्रुतिः—'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश।।' इति। अतः सदा सततं सरक्षसांमुख्यदा निरपभ्रंशाभिमुख्यदायिनी। ख्यातेः समृद्धेः कल्पने रचने दक्षा चतुरा। एका नापरा। वेदानां विपर्ययदोषरक्षिणी त्वमेवेति भावः। रेफविवर्तनेनायमपरोऽर्थः—सरक्षसां रक्षोभिः सहितानां मुख्यदानवानां सामग्र्यजुषां सामग्र्यं समग्रतां जुषन्ति सेवन्ते ये तेषाम्। समग्राणामित्यर्थः। सदा ख्यातिकल्पनदक्षा प्रथाछेदनचतुरा भवसीत्यर्थः। रक्षोदानवयोरत्र भेदः। अथवा दासानि भृत्यानि अप्रधानानि यानि रक्षांसि तानि दासरक्षांसि। सह तैर्वर्तन्ते ये ते सदासरक्षसः तेषां सदासरक्षसाम्। सपरिवाराणामित्यर्थः। अथवा सह दासैः रक्षोभिश्च वर्तन्ते ये तेषामिति। अत्र श्लोके ग्र्यर्वर्णस्थरेफस्य विपर्ययात् ग्र्य इति जायते तेन रेफविवर्तकोऽयम्।।92।।

सिता संसत्सु सत्तास्ते स्तुतेस्ते सततं सतः।
ततास्तितैति तस्तेति सूतिः सूतिस्ततोऽसि सा।।93।। (द्व्यक्षरः)

हे देवि, सा असि सा त्वं ततो हेतोः सूतिः शोभना ऊतिः रक्षा। अवतेः क्तिन्निपातनाद्रूपम्। यस्मात्ते भवत्याः संबन्धिन्याः स्तुतेः नुतेः हेतोः सतः साधोः सततं सदा संसत्सु सभासु सत्ता प्रशस्तता निर्मला आस्ते तिष्ठति। तथा तस्य सतस्तता अस्तिता एति विस्तीर्णा विद्यमानता आयाति। दीर्घमायुरारोग्यमैश्वर्यं च लभते आविर्भवतीति भावः। कीदृशी अस्तिता। तस्तेतिसूतिः तस्ता क्षपिता ईतीनां व्याधीनां सूतिः प्रसवो यस्याम्।।93।।

त्वदाज्ञया जगत्सर्वं भासितं मलनुद्यतः।
सदा त्वया सगन्धर्वं समिद्धमरिनुत्तितः।।94।। (गोमूत्रिकाबन्धोऽयम्)

हे देवि, मलनुत् आवरणनिवारिणी, त्वदाज्ञया भवच्छासनेन जगत्सर्वं त्रैलोक्यं समग्रं (त्रैलोक्यं) ज्ञानशक्तेरिच्छाशक्त्यात्मकं भवतीति भावः। यतो यस्मात्कारणादरिनुत्तितः शत्रुप्रेरणाद्विपक्षनाशाद्धेतोः त्वया भवत्या समिद्धं संलब्धज्ञानं सगन्धर्वं सदेवकुशीलवमेतज्जगद्भासितं प्रकाशितम्। मलं हि भासो विपक्षं तं च त्वं तुदसि। प्रस्तारोऽस्य प्राग्वत्।।94।।

यतो याति ततोऽत्येति यया तां तायतां यतैः।
मातामितोत्तमतमा तमोतीतां मतिं मम।।95।। (श्लोकार्धे द्व्यक्षरम्)

हे देवि, मतिं बुद्धिं मम तायतां मे विस्तार्यताम्। कीदृशीम्। तमोतीतां

विगततमस्काम्। यया मत्या यतो याति यतो निवर्तते ततोऽत्येति ततो विनश्यत इति भावः। कीदृशी मतिः। माता जननी। तथा अमिता अपरिच्छिन्ना। उत्तमतमा प्रकृष्टा ज्ञानमयी। एते षोडशश्लोकाश्चके षोडशाराः। एत एव च पुनरनुलोमतो लिखिता अन्ये षोडश एवं द्वात्रिंशदराः।।95।।

महत्तां त्वं श्रिता दासजनं मोहच्छिदा वस।

यच्छुद्धत्वं गतः पापमन्यस्य प्रसभं जय।।96।।

द्विप्रकारो दासजनः एको निवृत्तपापावरणः अपरः पापावृतः। तत्र मोहच्छित् अज्ञाननाशिनि देवि, त्वं भवती महत्तां श्रिता माहात्म्यमास्थिता सती यः शुद्धत्वं दासजनो गतः नैर्मल्यं प्राप्तः तमावसते अधितिष्ठ। अन्यस्य सपापस्य पापं कल्मषं प्रसभं बलाज्जय निवर्तय।।96।।

त्वं साज्ञासु जगन्मातः स्पष्टं ज्ञाता सुवर्त्मसु।

प्रज्ञा मुख्या समुद्भासि तत्पृथुत्वं प्रदर्शय।।97।।

हे मातस्त्रैलोक्यजननि, सुवर्त्मसु सन्मार्गविषयास्वाज्ञासु निरूपणासु त्वं भवती मुख्या प्रधाना प्रज्ञा बुद्धिः स्पष्टं ज्ञाता सुव्यक्तं विदिता तदा तत्पृथुत्वं प्रज्ञापृथुत्वं बुद्धिविस्तारं समुद्भासि समुद्भासते यत् तत्प्रदर्शय प्रकटीकुरु।।97।।

अस्मादेव श्लोकादक्षराण्युच्चित्येयमार्या भवति–

आज्ञासु जगन्मातः स्पष्टं ज्ञाता सुवर्त्मसु प्रज्ञा।

भासि त्वं सा मुख्या समुत्पृथुत्वं प्रदर्शय तत्।।98।।

अर्थोऽस्याः–हे देवि, जगन्मातस्त्रिलोकजननि, शोभनं वर्त्म मार्गो येषां पुंसां तद्विषया या आज्ञास्तासु त्वं सा ज्ञाता विदिता मुख्या प्रज्ञा भासि। स्पष्टं समुत् प्रकटमानन्दरूपं सत्पृथुत्वं महिमानं प्रदर्शय।।98।।

हन्त्र्यो रुषः क्षमा एता सदक्षोभास्तमुन्नतः।

सतेहितः सेवते ताः सततं यः स ते हितः।।99।।

हे देवि, क्षमा एतास्त्वं एताः प्रसिद्धा याः क्षान्तयो दर्पनिहतयस्ता भवती इति भावः। कीदृशाः क्षमाः। रुषो हन्त्र्यः क्रोधविनाशिन्यः। तथा सदक्षोभाः सत्याश्चाक्षोभाश्च। श्रेष्ठा अधिकाश्चेत्यर्थः। ताः क्षमाः सततमजस्रं य उन्नतः प्रधानपुरुषः सता ईहितः शोभनेन मार्गेण व्यापारितः सन्सेवते आश्रयते स ते भक्त्या हितोऽनुकूलः।।99।।

करोषि तास्त्वमुत्खातमोहस्थाने स्थिरा मतीः।

पदं यतिः सुतपसा लभतेऽतः सशुक्लिम।।100।।

हे देवि, उत्खातमोहस्थाने, उत्खातान्युन्मूलितानि मोहस्थानानि मदादयो यया तस्या आहूतिः। यतस्त्वं स्थिरा मतीः मैत्र्यादिका धिषणा अचलाः करोषि संपादयसि। अतो हेतोः यतिर्मुमुक्षुः सुतपसा शोभनेन निर्दम्भेन व्रतादिना सशुक्लिम शुक्लिमा शुक्लगुणत्वं तेन शुक्लिम्ना सह वर्तते यत्तत्सशुक्लिम सत्त्वगुणसहितं रजस्तमोरहितं पदं स्थानं लभते प्राप्नोति। चत्वार एते नेमिश्लोकाः। एभ्यश्च प्रथमं (प्रथममक्षरं) त्रीणि त्रीण्यक्षराणि लिखित्वा चतुर्थमक्षरं श्लोकप्रान्ते च भवतीति नेमेर्द्वितीयमर्धं मीलितं भवति। एवमेव चान्तर्लिखित्वा मध्यान्नाभिमीलनं भवति। एवं चक्रप्रस्तारः।।100।।

अत एव द्वात्रिंशतो नेमिस्थानान्नाभितो वा भ्रमं दत्त्वा तृतीयं तृतीयमेकोनत्रिंशमेकोनत्रिंशं चाक्षरनदिाय यथा लिखितदर्शनानुसारमङ्कचिह्नानि वीक्ष्य वर्णद्वात्रिंशतः श्लोकोऽयमुत्पद्यते–

देव्या स्वप्नोद्गमादिष्टदेवीशतकसंज्ञया।
देशितानुपमामाधादतो नोणसुतो नुतिम्।।101।।

इत्यङ्कश्लोकोऽयमुत्पद्यते। अर्थोऽस्यायम्–एतामेवमुक्तप्रकारां नुतिं स्तुतिं नोणसुतो नोणाख्यस्य कस्यचित्पुत्र आनन्दवर्धननामा आधाद्विहितवानकार्षीत्। कीदृशीम्। देव्या वागीश्वर्या स्वप्नोद्गमे निद्राविभवे आदिष्टा निरूपिता देवीशतकमिति संज्ञा तया देशितानुपमाम्। तल्लक्षणो देशो निदेश आज्ञा विद्यते यस्याः सा देशिनी तस्या भावो देशिता स्थानविशेषः तया देशितया अविद्यमानान्यप्रशंसामनुत्तमाम्। देवीस्तोत्रतया सर्वातिशायिनीमिति भावः।।101।।

हार्दध्वान्तनियन्तृभास्वरवपुः स्वर्वासिनां सर्वतो
दुर्वाराररिपरिक्षयं विदधती ध्यातैव निर्वाणसूः।
देहार्धे निहिता भवेन भुवनत्राणैकतानात्मना
देवि त्वं त्वमिवापरा जगति का सत्केसरीन्द्रस्थितिः।।102।। (प्रहेलिकेयम्)

हे देवि, त्वमिव जगति कापरा भवतीतुल्या त्रिभुवने कान्या विद्यते। त्वत्सदृशी त्रैलोक्येऽपि नान्या विद्यत इत्यर्थः। हार्दध्वान्तं स्वहृन्मोहस्तस्य नियन्तृ प्रमाथि भास्वरं दीप्तिमद्वपुः शरीरं यस्याः सा तथाविधा। तथा स्वर्वासिनां दिवौकसां सर्वतः समन्तात् दुर्वारारिपरिक्षयमजेयशत्रुशमनं विदधती कुर्वाणा। तथा ध्यातैव निर्वाणसूः चिन्तितैव निर्वाणं मोक्षं सूते प्रयच्छति। अपरं देहार्धे निहिता भवेन (देवेन द्योतनशीलेन) भवेन शिवेन शरीरार्धे नियोजिता स्वशरीरवामभागे स्थापिता। हरेण प्रभुणा कीदृशेन। भुवनत्राणैकतानात्मना भुवनानां त्रयाणां लोकानां त्राणे रक्षायामेकतान एकरसः

सर्वदा प्रसृते (प्रवृत्ते) आत्मा प्रकृतिः स्वभावो यस्य तेन। त्वं च कीदृशी। सत्केसरीन्द्रस्थितिः शोभनसिंहराजे स्थितिर्वरस्थानं यस्याः सा। अथ च त्वमिवापरा जगति का इति प्रश्ने कृते सत्केसरीन्द्रस्थितिरित्युत्तरम्। त्वत्तुल्या का इति पृच्छायां भगवन्नृसिंहमूर्तिरित्युत्तरदानात्प्रहेलिकेतीयमुच्यते। व्याख्या तु समाना सर्वत्र। केवलं देहार्धे निहिता भवेनेत्यत्राकारप्रश्लेषो व्याख्यायते। तथा अभवेनाविद्यमानसंसारेणाजेन भगवता विष्णुना देहार्धे शरीरोपरिभागे निहितेत्येतावान्स्तुविशेषः। प्रहेलिकेयम्।।102।।

क्लेशोन्माथकरी सतां भवहरानन्दैकहेतो गुरु-
र्माता त्वं जगतां भवन्ति विधवाः सर्वे तवानुग्रहात्।
दुर्गे न क्वचिदेव सीदति जनस्त्वद्भक्तिपूताशयः
स्तुत्या भर्तुरभिन्नयेति विबुधैस्त्वं स्तूयसे श्रीरिव।।103।। (चतुरर्थः)

इतिशब्दः पूर्वोक्तप्रकारापेक्षायां वर्तते। भर्तुरभिन्नया प्रत्युः सदृश्या स्तुत्या नुत्या त्वं भवती विबुधैर्देवैर्मनीषिभिर्वा श्रीरिव लक्ष्मीरिव स्तूयसे नूयसे। अर्थवशाद्विभक्तिवचनलिङ्गविपरिणाम इति लक्ष्मीर्यथा भर्तुरभिन्नया स्तुत्या स्तूयते तथा त्वं स्तूयस इति। एवममूनि स्तुतिपदानि चतुर्णां भवभवानीकमलाकान्तकमलानां योज्यन्ते। तत्रोपमानयोः कमलाकान्तकमलयोस्तावत्स्तुतिप्रकारा व्याख्यायन्ते। हे श्रीः, भवहरानन्दैकहेतोः संसार (निवर्तक)स्य भगवतो विष्णोरानन्दे चित्ताह्लादने एकहेतो एकनिमित्तभूते, त्वं भवती सतां साधूनां क्लेशोन्माथकरी अविद्याविनाशिनी करीति आनुलोम्ये टचि डीप्। तथा त्वं जगतां त्रयाणां लोकानां गुरुः प्रधानम्। माता जननी। तथा विभवाः सर्वे समृद्धिगुणाः सकलास्तवानुग्रहाद्भवत्प्रसादाद्भवन्ति संपद्यन्ते। अन्यत्, त्वद्भक्तिपूताशयो जनः भवत्सेवापवित्रीकृतमना लोकः दुर्गे दुर्गतौ न क्वचिदेव न कुत्रचिदेव सीदति मज्जति।

भर्तुरभिन्नया स्तुत्येति तद्भर्तुः पक्षे योजना—हे भवहर संसारनिवर्तक विष्णो, तथा आनन्दैकहेतो, त्वं सतां क्लेशोन्माथे अविद्याविनाशने करी हस्ती। आनन्दैकहेतुत्वान्मोक्षप्रद इत्यर्थः। तथा त्वं जगतां गुरुः माता मापकश्च। त्रिभिः क्रमैरिति भावः। भवन्ति विभवाः सायुज्यादयः सर्वे तवानुग्रहात्। दुर्गे संसारबन्धने न क्वचिदेव सीदति जनस्त्वद्भक्तिपूताशयः।

उपमेययोरधुना संबन्धः। तत्र भवान्यास्तावत्—सतां क्लेशोन्माथकरी भव। लोण्मध्यमपुरुषैकवचनमेतत्। हे दुर्गे विन्ध्यवासिनि, हरस्यानन्दैकहेतो। शिष्टं श्रीस्तुल्या समानम्।

एतद्भर्तुर्गिरिशस्याधुना—हे भव हे हर हे आनन्दैकहेतो, त्वं जगतां गुरुः

माता हिंसिता।, त्रैलोक्यसंहर्ता रुद्र इत्याम्नायः। मीनातेः कृतात्वस्य तृचि मातेति रूपम्। तवानुग्रहात्सर्वे विभवा अणिमाद्या ऋद्धयो भवन्ति। शिष्टं श्रीपतिस्तुत्या समानमिति। एवमर्थचतुष्टयवाची।।103।।

येनानन्दकथायां त्रिदशानन्दे च लालिता वाणी।

तेन सुदुष्करमेतत्स्तोत्रं देव्याः कृतं भक्त्या।।104।।

अस्याप्ययमर्थः—तेन कविना नोणतनयेनानन्दवर्धनेन एतदेवमुक्तप्रकारं स्तोत्रं नवनं भक्त्या सेवया आरिराधिषया कृतं दृब्धं रचितम्। कीदृशं स्तोत्रम्। सुदुष्करं शोभना दुष्कराश्चक्रबन्धाद्यो यत्र सुष्ठु वा दुष्करं नान्येन केनचित्कर्तुं शक्यमिति। केन कविनेत्याह—येनानन्दकथायां विषमबाणलीलायां त्रिदशानन्देऽर्जुनचरिते च वाणी भारती लालिता विनोदिता। विषमबाणलीलार्जुनचरितविरचयितुः कवेः कृतिरेतत्स्तोत्रमिति वाक्यार्थः।।

वल्लभदेवायनितश्चन्द्रादित्यादवाप्य जन्मेमाम्।

कय्यटनामारचयद्विवृतिं देवीशतस्तोत्रे।

एवं वागीश्वर्याः स्वरूपमाख्याय यन्मयावाप्तम्।

पुण्यं तेन जगत्स्यात्प्रतिजन्मावाप्तपरबोधम्।।

वसुमुनिगगनोदधि (4078) समकाले याते कलेस्तथा लोके।

द्वापञ्चाशे वर्षे रचितेयं भीमगुप्तनृपे।।

कर्मस्थानोदिता साहिमकरशशभृद्वह्निचक्रान्तरस्था

क्षेत्रज्ञोद्बोधनाय प्रलयरविकराग्राभतेजोविरामा।

नित्यं मन्दालिघोषा कचटतपयशालापिनी मध्यवाहा

बालाग्रात्सूक्ष्मरूपा त्रिभुवनजननी पातु वागीश्वरी वः।।

एकायनस्याच्युततुल्यमूर्तेराचार्यनारायणगंर्तनाम्नः।

शिष्येण दृब्धेयमनन्तशास्त्रवेत्तुः सदृक्षेण च कय्यटेन।।

इति नोणात्मजश्रीमदाचार्यानन्दवर्धनविरचितं कय्यटप्रणीतया टीकया

समेतं देवीशतकम्।

3. भैरवस्तवः[1]

व्याप्तचराचरभावविशेषं चिन्मयमेकमनन्तमनादिम् ।
भैरवनाथमनाथशरण्यं त्वन्मयचित्ततया हृदि वन्दे ।।1।।

त्वन्मयमेतदशेषमिदानीं भाति मम त्वदनुग्रहशक्त्या ।
त्वं च महेश सदैव ममात्मा स्वात्ममयं मम तेन समस्तम् ।।2।।

स्वात्मनि विश्वगते त्वयि नाथे तेन न संसृतिभीतिकथास्ति ।
सत्स्वपि दुर्धरदुःखविमोहत्रासविधायिषु कर्मगणेषु ।।3।।

अन्तक मां प्रति मा दृशमेनां क्रोधकरालतमां विनिधेहि ।
शङ्करसेवनचिन्तनधीरो भीषणभैरवशक्तिमयोस्मि ।।4।।

इत्थमुपोढभवन्मयसंविद्दीधितिदारितभूरितमिस्रः ।
मृत्युयमान्तककर्मपिशाचैर्नाथ नमोस्तु न जातु बिभेमि ।।5।।

प्रोदितसत्यविबोधमरीचिप्रेक्षितविश्वपदार्थसतत्त्वः ।
भावपरामृतनिर्भरपूर्णे त्वय्यहमात्मनि निर्वृतिमेमि ।।6।।

मानसगोचरमेति यदैव क्लेशदशाऽतनुतापविधात्री[2] ।
नाथ तदैव मम त्वदभेदस्तोत्रपरामृतवृष्टिरुदेति ।।7।।

शङ्कर सत्यमिदं व्रतदानस्नानतपो भवतापविदारि ।
तावकशास्त्रपरामृतचिन्ता स्यन्दति चेतसि निर्वृतिधाराम् ।।8।।

नृत्यति गायति हृष्यति गाढं संविदियं मम भैरवनाथ ।
त्वां प्रियमाप्य सुदर्शनमेकं दुर्लभमन्यजनैः समयज्ञम् ।।9।।

---

1. यह स्तोत्र डॉ. के. सी. पाण्डेय की पुस्तक "Abhinal Gupta : An Historical and Philosophical Study के परिशिष्ट 'सी' में प्रकाशित है।
2. प्रबन्धात् MSS.

वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत् ।
येन विभुर्भवमरुसन्तापं शमयति जनस्य झटिति[1] दयालुः ।।10।।
समाप्तं स्तवमिदमभिनवाख्यं पद्यनवकम् ।।[2]

1. The metre here is apparently defective. We have, however, not corrected it, because this reading is supported by all the MSS., to which we have had access, as well as by the current oral tradition.
2. This "Abhinavākhya padyanavaka" is popularly called "Bhairava Stava".

4. क्रमस्तोत्रम्[1]

अयं दुःखव्रातव्रतपरिगमे पारणविधि-
र्महासौख्यासारप्रसरणरसे दुर्दिनमिदम् ।
यदन्यन्यक्कृत्या विषमविशिखप्लोषणगुरो-
र्विभोः स्तोत्रे शश्वत्प्रतिफलति चेतो गतभयम् ।।1 ।।
विमृश्य स्वात्मानं विमृशति पुनः स्तुत्यचरितम्
तथा स्तोता स्तोत्रे प्रकटयति भेदैकविषये ।
विमृष्टश्च स्वात्मा निखिलविषयज्ञानसमये
तदित्थं त्वत्स्तोत्रेऽहमिह सततं यत्नरहितः ।।2 ।।
अनामृष्टः स्वात्मा न हि भवति भावप्रमितिभाक्
अनामृष्टः स्वात्मेत्यपि हि न विनाऽऽमर्शनविधेः ।
शिवश्चासौ स्वात्मा स्फुरदखिलभावैकसरस-
स्ततोऽहं त्वत्स्तोत्रे प्रवणहृदयो नित्यसुखितः ।।3 ।।
विचित्रैर्जात्यादिभ्रमणपरिपाटीपरिकरै-
रवाप्तं सार्वज्ञं हृदय यदयत्नेन भवता ।
तदन्तस्त्वद्बोधप्रसरसरणीभूतमहसि
स्फुटं वाचि प्राप्य प्रकटय विभोः स्तोत्रमधुना ।।4 ।।
विधुन्वानो बन्धाभिमतभवमार्गस्थितिमिमां
रसीकृत्यानन्तस्तुतिहुतवहप्लोषितभिदाम् ।
विचित्रस्वस्फारस्फुरितमहिमारम्भरभसात्

---

1. यह स्तोत्र डॉ० के०सी० पाण्डेय की पुस्तक Abhina Gupta An Historical and Philosophical Study के परिशिष्ट 'सी' में प्रकाशित है।

पिवन् भावानेतान् वरद मदमत्तोस्मि सुखितः ॥15॥
भवप्राज्यैश्वर्यप्रथितबहुशक्तेर्भगवतो
विचित्रं चारित्रं हृदयमधिशेते यदि ततः।
कथं स्तोत्रं कुर्यादथ च कुरुते तेन सहसा
शिवैकात्म्यप्राप्तौ शिवनतिरुपायः प्रथमकः ॥16॥
ज्वलद्रूपं भास्वत्पचनमथ दाहं प्रकटनम्
विमुच्यान्यद्दहनेः किमपि घटते नैव हि वपुः।
स्तुवे संविद्रश्मीन् यदि निजनिजांस्तेन स नुतो
भवेन्नान्यः कश्चिद् भवति परमेशस्य विभवः ॥17॥
विचित्रारम्भत्वे गलितनियमे यः किल रसः
परिच्छेदाभावात् परमपरिपूर्णत्वमसमम्।
स्वयं भासां योगः सकलभवभावैकमयता
विरुद्धैर्धर्मौघैः परचितिरनर्घोचितगुणा ॥18॥
इतीदृक्षै रूपैर्वरद विविधं ते किल वपु-
र्विभाति स्वांशेऽस्मिन् जगति गतभेदं भगवतः।
तदेवैतत्स्तोतुं हृदयमथ गीर्बाह्यकरणं
प्रबन्धाश्च स्युर्मे सततमपरित्यक्तरभसः ॥19॥
तवैवैकस्यान्तः[1] स्फुरितमहसो बोधजलधे-
र्विचित्रोर्मिव्रातप्रसरणरसो यः स्वरसतः।
त एवामी सृष्टिस्थितिलयमयस्फूर्जितरुचां
शशांकार्काग्नीनां युगपदुदयापायविभवाः ॥10॥
अतश्चित्राचित्रक्रमतदितरादिस्थितिजुषो
विभोः शक्तिः शश्वद् व्रजति न विभेदं कथमपि।
तदेतस्यां भूमावकुलमिति ते यत्किल पदम्
तदेकाग्रीभूयान्मम हृदयभूर्भैरव विभो ॥11॥

1. तवैकैकस्य MSS.

अमुष्मात् सम्पूर्णात् बत रसमहोल्लाससरसा-
न्निजां शक्तिं भेदं गमयसि निजेच्छाप्रसरतः।
अनर्घं स्वातंत्र्यं तव तदिदमत्यद्भुतमयीम्
भवच्छक्तिं स्तुन्वन् विगलितभयोहं शिवमयः।।12।।
इदन्तावद्रूपं तव भगवतः शक्तिसरसं
क्रमाभावादेव प्रसभविगलत्कालकलनम्।
मनःशक्त्या वाचाप्यथ करणचक्रैर्बहिरथो
घटाद्यैस्तद्रूपं युगपदधितिष्ठेयमनिशम्।।13।।
क्रमोल्लासं तस्यां भुवि विरचयन् भेदकलनाम्
स्वशक्तीनां देव[1] प्रथयसि सदा स्वात्मनि ततः।
क्रियाज्ञानेच्छाख्यां[2] स्थितिलयमहासृष्टिविभवां
त्रिरूपां भूयासं समधिशयितुं व्यग्रहृदयः।।14।।
परा सृष्टिर्लीना हुतवहमयी यात्र विलसत्[3]-
परोल्लासौन्मुख्यं व्रजति शशिसंस्पर्शसुभगा।
हुताशेन्दुस्फारोभयविभवभाग भैरवविभो
तवेयं सृष्ट्याख्या मम मनसि नित्यं विलसतात्।।15।।
विसृष्टे भावांशे बहिरतिशयास्वादविरसे
यदा तत्रैव त्वं भजसि रभसाद् रक्तिमयताम्।
तदा रक्ता देवी तव सकलभावेषु ननु माम्
क्रियाद्रक्तापानक्रमघटितगोष्ठीगतघृणम्।।16।।
बहिर्वृत्तिं हातुं चितिभुवमुदारां निवसितुं
यदा भावाभेदं प्रथयसि विनष्टोर्मिचपलः।
स्थितेर्नाशं देवी कलयति तदा सा तव विभो
स्थितेः सांसारिक्याः कलयतु विनाशं मम सदा।।17।।

---

1. देवः MSS.
2. क्रियाज्ञानेच्छाख्या स्थितिलयमहासृष्टिविभवा त्रिरूपा MSS.
३. विलसेत् MSS.

जगत्संहारेण प्रशमयितुकामः स्वरभसात्
स्वशंकातंकाख्यं विधिमथ निषेधं प्रथयसि।
इमं[1] सृष्ट्वेत्थं त्वं पुनरपि च शंकां विदलयन्
महादेवी सेयं मम भवभयं संदलयताम्।।18।।

विलीने शङ्कौघे सपदि परिपूर्णे च विभवे
गते लोकाचारे गलितविभवे शास्त्रनियमे।
अनन्तं भोग्यौघं ग्रसितुमभितो लंपटरसा
विभो संसाराख्या मम हृदि भिदांशं प्रहरतु।।19।।

तदित्थं देवीभिः सपदि दलिते भेदविभवे
विकल्पप्राणासौ प्रविलसति मातृस्थितिरलम्।
अतः संसारांशं निजहृदि विमृश्य स्थितिमयी
प्रसन्ना स्यान्मृत्युप्रलयकरणी मे भगवती।।20।।

तदित्थं ते तिस्रो निजविभवविस्फारणवशा-
दवाप्ताः षट्चक्रं क्रमकृतपदं शक्तय इमाः।
क्रमादुन्मेषेण प्रविदधति चित्रां भुवि दशा-
मिमाभ्यो देवीभ्यः प्रवणहृदयः स्यां गतभयः।।21।।

इमां रुन्धे भूमिं भवभयभिदातंककरणीम्
इमां बोधैकान्तद्रुतिरसमयीं चापि विदधे।
तदित्थं संबोधद्रुतिमथ विलप्याशुभतती-
र्यथेष्टं चाचारं भजति लसतात् सा मम हृदि।।22।।

क्रियाबुद्ध्यक्षादेः परिमितपदे मानपदवी-
मवाप्तस्य स्फारं निजनिजरुचा संहरति या।
इयं मार्तण्डस्य स्थितिपदयुजः सारमखिलम्
हठादाकर्षन्ती कृषतु मम भेदं भवभयात्।।23।।

समग्रामक्षालीं क्रमविरहितामात्मनि मुहु-

---

1. यमम् MSS.

निर्विश्यानेन्तान्तर्बहलितमहारश्मिनिवहा।
परा दिव्यानन्दं कलयितुमुदारादरवती
प्रसन्ना मे भूयात् हृदयपदवीं भूषयतु च।।24।।
प्रमाणे संलीने शिवपदलसद्वैभववशा-
च्छरीरं प्राणादिर्मितकृतकमातृस्थितिमयः।
यदा कालोपाधिः प्रलयपदमासादयति ते
तदा देवी यासौ लसति मम सा स्ताच्छिवमयी।।25।।
प्रकाशाख्या संवित् क्रमविरहिता शून्यपदतो
बहिर्लीनात्यन्तं प्रसरति समाच्छादकतया।
ततोऽप्यन्तःसारे गलितरभसादक्रमतया।
महाकाली सेयं मम कलयतां कालमखिलम्।।26।।
ततो देव्यां यस्यां परमपरिपूर्णस्थितिजुषि
क्रमं विच्छिद्याशु स्थितिमतिरसात्संविदधति।[1]
प्रमाणं मातारं मितिमथ[2] समग्रं जगदिदम्
स्थितां क्रोडीकृत्य श्रयति मम चित्तं चितिमिमाम्।।27।।
अनर्गलस्वात्ममये महेशे तिष्ठन्ति यस्मिन् विभुशक्तयस्ताः।
तं शक्तिमन्तं प्रणमामि देवं मन्थानसंज्ञं जगदेकसारम्।।28।।
इत्थं स्वशक्तिकिरणौघनुतिप्रबन्धान्[3]
आकर्ण्य देव यदि मे व्रजसि प्रसादम्।
तेनाशु सर्वजनतां निजशासनांशु-
संशान्तिताखिलतमः पटलां विधेयाः।।29।।
षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि।
मयाऽभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः।।30।।
इति श्री अभिनवगुप्तपादाचार्यकृतं क्रमस्तोत्रं सम्पूर्णम्।।

---

1. According to the post-Nāgeśa grammariams the root 'Dadha' can not be used in active voice. Abhinava, however, here seems to fallon the practice of earlier grammavians who maintained "अनुदात्तेत्त्व लक्षणमात्मनेपदमनित्यम्"
2. मित MSS.
3. प्रबन्धात् MSS.

5. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्[1]

असुरसुरवृन्दवन्दितमभिमतवरवितरणे निरतम्।
दर्शनशताग्र्यपूज्यं प्राणतनुं गणपतिं वन्दे।।1।।
वरवीरयोगिनीगणसिद्धावलिपूजितांघ्रियुगलम्।
अपहृतविनयिजनार्तिं वटुकमपानाभिधं वन्दे।।2।।
आत्मीयविषयभोगैरिन्द्रियदेव्यः सदा हृदम्भोजे।
अभिपूजयन्ति यं तं चिन्मयमानन्दभैरवं वन्दे।।3।।
यद्धीबलेन विश्वं भक्तानां शिवपथं भाति।
तमहमवधानरूपं सद्गुरुममलं सदा वन्दे।।4।।
उदयावभासचर्वणलीलां विश्वस्य या करोत्यनिशम्।
आनन्दभैरवीं तां विमर्शरूपामहं वन्दे।।5।।
अर्चयति भैरवं या निश्चयकुसुमैः सुरेशपत्रस्था।
प्रणमामि बुद्धिरूपां ब्रह्माणीं तामहं सततम्।।6।।
कुरुते भैरवपूजामनलदलस्थाऽभिमानकुसुमैर्या।
नित्यमहंकृतिरूपां वन्दे तां शाम्भवीमम्बाम्।।7।।
विदधाति भैरवार्चां दक्षिणदलगा विकल्पकुसुमैर्या।
नित्यं मनःस्वरूपां कौमारीं तामहं वन्दे।।8।।
नैर्ऋतदलगा भैरवमर्चयते शब्दकुसुमैर्या।
प्रणमामि शब्दरूपां नित्यं तां वैष्णवीं शक्तिम्।।9।।
पश्चिमदिग्दलसंस्था हृदयहरैः स्पर्शकुसुमैर्या।
तोषयति भैरवं तां त्वग्रूपधरां नमामि वाराहीम्।।10।।

---

1. यह स्तोत्र डॉ० के०सी० पाण्डेय की पुस्तक Abhinav Gupta An Historical and Philosophical Study के परिशिष्ट 'सी' में मुद्रित है।

वरतररूपविशेषैर्मारुतदिग्दलनिषण्णदेहा या।
पूजयति भैरवं तामिन्द्राणीं दृक्तनुं वन्दे।।11।।
धनपतिकिसलयनिलया या नित्यं विविधषड्रसाहारैः।
पूजयति भैरवं तां जिह्वाभिख्यां नमामि चामुण्डाम्।।12।।
ईशदलस्था भैरवमर्चयते परिमलैर्विचित्रैर्या।
प्रणमामि सर्वदा तां घ्राणाभिख्यां महालक्ष्मीम्।।13।।
षड्दर्शनेषु पूज्यं षड्त्रिंशत्तत्त्वसंवलितम्।
आत्माभिख्यं सततं क्षेत्रपतिं सिद्धिदं वन्दे।।14।।
संस्फुरदनुभवसारं सर्वान्तः सततसन्निहितम्।
नौमि सदोदितमित्थं निजदेहगदेवताचक्रम्।।15।।

इति देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्।

6. अनुभवनिवेदनम्।[1]

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरसौ पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा युष्मत्प्रसादाद् गुरो
शून्याशून्यविवर्जितं भवति यत् तत्त्वं पदं शाम्भवम्।।1।।
अर्धोद्घाटितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कादपि लीनतामुपगतौ त्रिस्पन्दभावान्तरे।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं चैकं पुमांसं परम्
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्।।2।।
शब्दः कश्चन यो मुखादुदयते मन्त्रः स लोकोत्तरः
संस्थानं सुखदुःखजन्मवपुषो यत्कापि मुद्रैव सा।
प्राणस्य स्वरसेन यत्प्रवहणं योगः स एवाद्भुतः
शाक्तं धाम परं ममानुभवतः किन्नाम न भ्राजते।।3।।
मन्त्रः स प्रतिभाति वर्णरचना यस्मिन्न संलक्ष्यते
मुद्रा सा समुदेति यत्र गलिता कृत्स्ना क्रिया कायिकी।
योगः स प्रथते यतः प्रवहणं प्राणस्य संक्षीयते
त्वद्धामाधिगमोत्सवेषु सुधियां किं किं न नामाद्भुतम्।।4।।

इति अनुभवनिवेदनस्तोत्रम्।

---

1. यह स्तोत्र डॉ॰ के॰ सी॰ पाण्डेय की पुस्तक Abhinava Gupta An Historical and Philosophical Study के परिशिष्ट 'सी' में मुद्रित है।

7. अनुत्तराष्टिका*

संक्रामोत्र[1] न भावना न च कथायुक्तिर्न चर्चा न च
ध्यानं वा न च धारणा न च जपाभ्यासप्रयासो न च।
तत्किं नाम सुनिश्चितं वद परं सत्यं च तच्छ्रुयतां
न त्यागी न परिग्रही भज सुखं सर्वं यथावस्थितः।।1।।
संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किंचित्त्यज मा गृहाण विलस[3] स्वस्थो यथावस्थितः।।2।।
पूजापूजकपूज्यभेदसरणिः केयं कथानुत्तरे
संक्रामः[4] किल कस्य केन विदधे को वा प्रवेशक्रमः।
मायेयं न चिदद्वयात्परतया भिन्नाप्यहो वर्तते
सर्वं स्वानुभवस्वभावविमलं चिन्तां वृथा मा कृथाः।।3।।
आनन्दोऽत्र न वित्तमद्यमदवन्नैवाङ्गनासङ्गवत्
दीपार्केन्दुकृतप्रभाप्रकरवन् नैव प्रकाशोदयः।
हर्षः संभृतभेदमुक्तिसुखभूर्भारावतारोपमः
सर्वाद्वैतपदस्य विस्मृतनिधेः प्राप्तिः प्रकाशोदयः।।4।।

---

* यह स्तोत्र Dr. K.C. Pandey Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study के परिशिष्ट 'सी' में मुद्रित है।

1. संकामो न न MSS.
2. जपाभ्यासः प्रयासो MSS.
3. विहर MS., A.
4. संज्ञासत्किल MS., B.

रागद्वेषसुखासुखोदयलयाहङ्कारदैन्यादयो
ये भावाः प्रविभान्ति विश्ववपुषो भिन्नस्वभावा न ते।
व्यक्तिं पश्यसि यस्य यस्य सहसा तत्तत्तदेकात्मता-
संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावनानिर्भरः ।।5।।
पूर्वाभावभवक्रिया हि सहसा भावाः सदाऽस्मिन्भवे
मध्याकारविकारसङ्करवतां तेषां कुतः सत्यता।
निःसत्ये चपले प्रपञ्चनिचये स्वप्नभ्रमे पेशले
शङ्कातङ्ककलङ्कयुक्तिकलनातीतः प्रबुद्धो भव।।6।।
भवानां न समुद्भवोऽस्ति सहसस्त्वद्भाविता भान्त्यमी
निःसत्या अपि सत्यतामनुभवभ्रान्त्या भजन्ति क्षणम्।
त्वत्सङ्कल्पज एष विश्वमहिमा नास्त्यस्य जन्मान्यतः
तस्मात्त्वं विभवेन भासि भुवनेष्वेकोप्यनेकात्मकः।।7।।
यत्सत्यं यदसत्यमल्पबहुलं नित्यं न नित्यं च यत्
यन्मायामलिनं यदात्मविमलं चिद्दर्पणे[1] राजते।
तत्सर्वं स्वविमर्शसंविदुदयाद् रूपप्रकाशात्मकं
ज्ञात्वा स्वानुभवाधिरूढमहिमा विश्वेश्वरत्वं भज।।8।।
इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादैर्विरचितानुत्तराष्टिका समाप्ता।

---

1. चिद्धर्षणे राजसे MSS.

8. परमार्थद्वादशिका*

शान्तिं संभज नित्यमल्पवचनैर्जल्पक्रमं संहर

तत्संहारगमेन किं कथमिदं कोसीति माचीक्लृपः।

भावाभावविभागभासनतया यद्भात्यभग्नक्रमम्

तच्छून्यं शिवधाम वस्तु परमं ब्रह्मात्र कोर्थग्रहः।।1।।

यद्यतत्त्वपरिहारपूर्वकं तत्त्वमेषि तदतत्त्वमेव हि।

यद्यतत्त्वमथ तत्त्वमेव वा तत्त्वमेव ननु तत्त्वमीदृशम्।।2।।

यद्यद्भाति न भानतः पृथगिदं भेदोपि भातीति चेत्

भाने सोऽपि न भाति किं जहि ततस्तद्भंगिभ[3]गग्रहम्।

स्वप्ने स्वप्नतया प्रथां गतवति क्रीडैव नो भीतिकृ-

च्छस्त्राघातजलावपातहुतभुङ्निर्घातबन्धादिकम्।।3।।

ज्ञानक्रियाकलनपूर्वकमध्यवस्ये-

द्यद्भवान् कथय कोऽस्य जडाद्विशेषः।

स्फूर्जञ्जडोऽपि न किमद्वयबोधधाम

निस्सीमनित्यनिरवग्रहसत्यरूपम्।।4।।

भावानामवभासकोसि यदि तैर्मोहः किमातन्यते

किं ते तद्यदि भान्ति[4] हन्त भवतस्तत्राप्यखण्डं महः।

नोचेन्नास्ति तदेवमप्युभयथा निर्व्याजनिर्यन्त्रणा-

त्रुट्यद्विभ्रमनित्यतृप्तमहिमा नित्यं प्रबुद्धोऽसि भोः।।5।।

---

* यह स्तोत्र Dr. K.C. Pandey Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study के परिशिष्ट सी में मुद्रित है।

1. तथ्यातथ्यमकल्पमल्पशयनैः MS., B.
2. संहरंस्तत् MS., B.
3. ततस्त्वद्भंगि MSS.
4. भाति MSS.

दृष्टिं बहिः प्रहिणु लक्ष्यपथातिरिक्तम्
स्याद्भैरवानुकरणं वत वञ्चनेयम्।
निर्द्वन्द्वबोधगगनस्य न बाह्यमस्ति
नाभ्यन्तरं निरवकाशविकासधाम्नः।।6।।
वासनाप्रसरविभ्रमोदये यद्यदुल्लसति तत्तदीक्ष्यताम्।
आदिमध्यनिधनेषु तत्र चेत् भासि भासि तव लीयते जगत्।।7।।
मोहो दुःखवितर्कतर्कणघनो हेतुप्रथानन्तर-
प्रोद्यद्विभ्रमशृङ्खलातिबहुलो गन्धर्वपूःसन्निभः।
द्वैताद्वैतविकल्पनाश्रयपदे चिद्व्योम्नि नाभाति चेत्
कुत्रान्यत्र चकास्तु कास्तु परमा निष्ठाप्यनेकात्मना।।8।।
स्वप्ने तावदसत्यमेव सरणं[1] सौसुप्तधाम्नि प्रथा
नैवास्यास्ति तदुत्तरे निरुपधौ चिद्व्योम्नि कोऽस्य ग्रहः।
जाग्रत्येव धरावदर्थनिचयः स्याच्चेत् क्षणे कुत्रचित्
ज्ञानेनाथ तदत्ययेऽपृथगिदं तत्रापि का खण्डना।।9।।
ये ये केऽपि प्रकाशा मयि सति परमव्योम्नि लब्धावकाशाः
काशा[2] ह्येतेषु नित्ये महिमनि मयि ते निर्विभागं विभान्ति।
सोऽहं निर्व्याजनित्यप्रतिहतकलनानन्तसत्यस्वतन्त्र-
ध्वस्तद्वैताऽद्वयारिद्वयमयतिमिरापारबोधप्रकाशः।।10।।
कालः संकलयन्कलाः कलयतु स्रष्टा सृजत्वादरा-
दाज्ञायाः परतन्त्रतामुपगतो मथ्नातु वा मन्मथः।
क्रीडाडम्बर[3]मम्बराश्रयमिव स्वोल्लेखरेखाक्रमं
देहाद्याश्रयमस्तु वैकृतमहामोहे न पश्यामि किम्।।11।।
कः कोऽत्र भोर्य कवलीकरोमि कः कोत्र भोर्य सहसा निहन्मि।
कः कोऽत्र भोर्य परबोधधामसञ्चर्वणोन्मत्ततनुः पिवामि।।12।।

1. मरणम् MSS.
2. काशामेतेषु MS., A. काशांह्येतेषु MS., B.
3. क्रीडाम्बर MSS.

भवोत्थभयभङ्गदङ्गदशृगालविद्रावणम्
प्रबोधधुरिधीमतामपि सकृद्यदुद्दीपनम्।
सुधामगहनाटवीविहरणातितृप्त्युद्भमाद्
अभेदकरिबृंहितं व्यधित रम्यदेवो हरिः।।13।।

इत्याचार्याभिनवगुप्तकृता परमार्थद्वादशिका भव्यायास्तुतराम्।

1. उद्दीपयन् MSS.

9. महाकविश्रीलोष्टकनिर्मितं

दीनाक्रन्दनस्तोत्रम्।[2]

चुण्ठीजलैरिव[3] सुखैः परिणामदुःखै-
रास्वादितैरपि मनागविलुप्ततृष्णः।
श्रान्तोऽस्मि हा भवमरौ सुचिरं चरित्वा
तच्छायया चरणयोः शिव मां भजेयाः ॥1॥

दुर्वारसंसृतिरुजा भृशकांदिशीक-
स्त्वामोषधीपतिभृतं[4] सुकृतैरवाप्य।
आवेदयामि यदहं तव तन्निदानं
तत्रावधेहि मृड मा कुरु मय्यवज्ञाम् ॥2॥

---

1. अयं रम्यदेवसूनुर्लोष्टककविः कश्मीरेषु खिस्ताब्दीयद्वादशशतकपूर्वार्धे आसीत्, यतस्तत्कालोद्भूतेन श्रीमङ्खकेन श्रीकण्ठचरितस्यान्तिमे सर्गे रम्यदेवलोष्टदेवयोर्वर्णनं कृतमस्ति। एतत्स्तोत्रमपहायान्यः कोऽपि ग्रन्थोऽस्य कवेरद्यापि नोपलब्धः, श्रीकण्ठचरितान्तिमसर्ग एव कतिचन श्लोका लोष्टदेवप्रणीताः समुपलभ्यन्ते। अथ च तत्रैव लोष्टदेववर्णने "वाग्देवतालिनीलीलाधुतपक्षतिचातुरीम्। वदनाम्बुरुहे यस्य भाषाः षडधिशेरते।। खलानां यत्प्रबन्धेषु दृढव्युत्पत्तिवर्मसु। प्रोद्यच्चोद्यमया दूरे कुण्ठिता इव पत्त्रिणः।।" इति पद्यद्वयमस्ति। एतेन सन्ति केचन प्रबन्धा लोष्टदेवप्रणीता इति प्रतीयते। जल्हणसंकलितसूक्तिमुक्तावलौ च 'प्रकृत्यैवातिवक्रेण गुणदैर्घ्यं वितन्वता। मया शरासनेनेव बाणो दूरं निरस्यते।।' अयं श्लोको लोष्टदेवनाम्ना समुद्धृतो वर्तते। अन्तिमावस्थायामयं कविर्वाराणस्यां गत्वा यतित्वं स्वीकृतवान्, प्रणीतवांश्च तत्रैवेदं दीनाक्रन्दनस्तोत्रमिति स्तोत्रसमाप्तौ स्फुटमस्ति। अस्य दीनाक्रन्दनसतोत्रस्य पुस्तकद्वयं पुण्यपत्तनतो विद्वन्मूर्धन्यभाण्डारकरोपाह्वश्रीरामकृष्णशर्मभिः कृपयास्मभ्यं प्रहितम् तदाधारेणेतन्मुद्रणमारभ्यते। तत्र प्रथमं नागराक्षरलिखितं पञ्चपत्रात्मकं क-चिह्नितम्। अपरं शारदालिपिसमुल्लसितं विंशतिपत्रात्मकं ख-चिह्नितम्, पुस्तकद्वयमपि नवीनं काश्मीरलिखितं चास्ति। ख-पुस्तके विंशतिश्लोकपर्यन्तं स्वल्पं टिप्पणमप्यस्ति।
2. यह स्तोत्र 'काव्यमाला' के षष्ठ गुच्छक में चौखम्बा भारती ओकादेमी, वाराणसी द्वारा 1987 में पुनः मुद्रित हुआ है।
3. लताविंतानसंछन्नः शिलाकीर्णोऽकृत्रिमो जलाशयचुण्ठी।
4. 'ओषधीपतिशिखामणिमाश्रितोऽस्मि' इति क-पाठः।

दुर्वासनाशतवशादशुचित्वमीक्ष्य
या मे हठात्कृतवती मनसि प्रवेशम्।
सानेकजन्ममरणावटपातनेन
मां राक्षसीव बहु नाथ तदुत्यविद्या ।।3।।

घोरे क्षणं विनिपतन्नरके क्षणं च
पुण्यं पदं दिविषदां सहसाधिरोहन्।
मोहेन कन्दुकदशामिव नीयमानः
स्वामिन्सहे किमवधीनि गतागतानि ।।4।।

का मे गतिर्विशति नैव मनो विवेकः
स्वप्नेऽपि पक्कणमिव प्रवरो द्विजानाम्।
रुद्धेऽपि तत्र न स रोद्धुमलं मुहूर्तं
विश्वेश मौक्तिकमिवोपरि दर्पणस्य ।।5।।

पित्रोर्जघन्यरसबिन्दुयुगं गृहीत्वा
हन्तासकृत्पतितवानधिगर्भवासम्।
तद्दुःखमन्वभवमीश, गभीरकुम्भी-
पाको वराक इति यस्य पुरो गृणन्ति ।।6।।

तत्र स्थितस्तदनु तत्तदनेकपूर्व-
जन्मान्तरस्मरणविस्मयदुःखितात्मा।
अस्मान्निसृत्य पुनरुद्भवभङ्गहेतो-
श्चेतो विधास्य इति चाकरवं प्रतिज्ञाम् ।।7।।

तेनाध्वनाथ निसृतोऽस्मि ततः स्मृतेऽपि
यस्मिन्निकाममभिमानधनास्त्रपन्ते।
संस्पर्शतस्तु शतशः [1]शितिकर्मवायोः
प्रायो निगूढदृढमूढदशामवापम् ।।8।।

तिर्यग्दशमिव [2]शनैरविवेकसेका-

1. 'शित' इति क-पाठः।
2. 'गतोऽस्यविवेकसेकात्' इति क-पाठः।

द्वर्षाण्यवाप्य परमेश्वर पञ्चषाणि।
तत्तत्कृतं पतदपि स्मृतिसीम्नि यद्य-
त्सद्यो हियं जडधियोऽपि हृदि प्रसूते ॥9॥
आसाद्य यौवनमथो बहुभिः प्रकारैः[1]
शृङ्गारभङ्ग्यनुगुणैर्गुणिताविवेकः।
जातोऽस्मि घोरनरकावहकर्मयोगा-
द्भोगाशया प्रशमितोभयलोकशुद्धिः॥10॥
मोहात्कृतः परिणयोऽप्यनयोर्महीया-
न्मूलं समस्तभवबन्धनदुर्गतीनाम्।
यस्मादुपेत्य दुरपत्यजनेन सृष्टैः
स्नेहोऽस्मि वेष्टित इवोत्कटनागपाशैः॥11॥
तत्पोषणाय विदुषापि मया समस्त-
मौचित्यमुज्झितवतात्तवता कुकृत्यम्।
द्वारि श्ववल्लडितमेव कदीश्वराणां
सोढावमानशतविक्लवमानसेन॥12॥
प्राणाधिकैरथ वियोगमवाप्य तैस्तै-
रिष्टैररुंतुदविषादवशंवदेन।
स्त्रीवन्मया विलपितं विहितं न किंचि-
त्कृत्यं सतां समुचितं[2] हहहा हतोऽस्मि॥13॥
सांसारिकेषु विषयेषु निपत्य राग-
द्वेषैकनिष्ठहृदयो भगवन्नभूवम्।
आसीददन्तकभयप्रतिकूलवृत्ति
किंचिन्मिया[3] न रचितं विदितं न वापि॥14॥
इत्थं न किं व्यवहृतं न किमुक्तमात्तं
किं वा न किं न कलितं[4] ललितं न वापि।

1. 'विकारैः' इति क-पाठः।
2. 'समुचितमहहा' इति ख-पाठः।
3. 'मया विरचितं' इति ख-पाठः।
4. 'वलितं' इति क-पाठः।

सर्वत्र तत्र शरणं कृपणस्य मे त्व-
मेह्येहि देहि चरणं शिरसीन्दुमौले।।15।।
याः प्रोत्कटा[1] भ्रुकुटयो यमकिंकराणां
पीडाश्च या नवनवा नरकावनीषु।
ताश्चिन्तिता अपि भयाय ममाधुनैव
सोढास्मि ताः कथमहो विषमो विषादः।।16।।
भीतोऽस्मि दुर्गततमोऽस्मि कदर्थितोऽस्मि।
पापोऽस्मि विस्मृतसदध्वपरिग्रहोऽस्मि।
तत्केन केन न पथास्मि कृपास्पदं ते[2]
मत्वेति शंकर यथोचितमाचरेथाः।।17।।
नो यत्र बन्धुरथ नैव पिता न माता
नो वा सुहृद्धृतिमुपेत्य विधातुमीष्टे।
तास्वेत्य नाथ मम नारकभूषु कुर्या-
स्त्राणं त्वमेव हि जगत्सु दयार्द्रचेताः।।18।।
भ्रष्टोऽस्मि यद्यपि सतां चरितात्तथापि
मां त्रातुमर्हसि कृतान्तभिया[3] श्रयन्तम्।
प्रह्वेषु विह्वलतया शरणागतेषु
नो साधवो विदधते सदसद्विवेकम्।।19।।
येष्वन्धकारनिकरेण करालिता भू-
र्यत्र ज्वलन्ति नरकेष्वनिशं हुताशाः।
धामत्रयीनयन निर्जरसिन्धुमूर्ध-
स्तत्रेतरस्त्वमिव कः शरणं नराणाम्।।20।।
प्राग्यावदिन्द्रियगणः पटुशक्तिरासी-
त्स्वामिन्स तावदगमद्विषयेषु निष्ठाम्।

1. 'प्रोत्कटभ्रुकुटयो' इति क-पाठः।
2. 'मां' इति क-पाठः।
3. 'कृतान्तभियं' इति ख-पाठः।

शक्तिक्षयेऽद्य स कथं भजते भवन्तं
जन्मेति मे विफलमीश किमाः करोमि ।21।।

नादायि[1] दानमथ नैव तपो व्यधायि
नासेवि [2]तीर्थदिगसाध्यतरः समाधिः।
तत्का परत्र गतिरस्त्यनवाप्तपुण्य-
ज्ञानस्य[3] मे भव भवत्स्मृतिमन्तरेण।।22।।

कालान्न मे भयमथो[4] कनके न लिप्सा[5]
नैवास्मि शैशववशेन पयः पिपासुः[6]।
त्वद्दर्शनाय तु शिव स्पृहयामि लोभा-
त्तत्रापि किं तव न वा सुकरः प्रकारः।।23।।

यज्जन्म दुर्लभमुशन्ति मनुष्यलोके
तत्प्राप्तमप्यतनुपूर्वशुभप्रभावात्।
जातं वृथैव मम यत्र मुहुः कदापि
नैवान्वभावि भवदर्चनभक्तिसौख्यम्।।24।।

जातिर्महेश्वर [7]भुजंगमपुंगवानां
स्तुत्या वरं भवदलंकृतिवाहकृत्यैः।
मानुष्यकं तु मम [8]धिक्कलया कयापि
[9]यन्नोपयोगमगमत्त्वयि मच्छरीरम्।।25।।

---

1. अयं श्लोकः सुभाषितावलौ कर्तृनामरहितो वल्लभदेवेन समुद्धृतः।
2. 'तीर्थदिगसाधि न वा समाधिः' इति क-पाठः।
3. 'भावस्य' इति क-पाठः।
4. श्वेताख्यराजर्षिवत्। स च कृतान्तभयात्परमेश्वरेण मोचितः।
5. मरुत्तनृपतिवत्। मरुत्ततपस्तुष्टेन श्रीशिवेन सप्तदिनपर्यन्तं तत्पुरे सुवर्णवर्षणमकारि।
6. उपमन्युवत्। परमशिवभक्तायोपमन्युनाम्ने मुनिकुमाराय दुग्धं पिपासते परमकारुणिकेन भगवता क्षीराब्धिरेव समर्पितः।
7. सर्पाणां वृषभस्य च।
8. 'धिक्कलयापि शंभो' इति क-पाठः।
9. 'यत्रोपयोगमगमत्त्वयि नो शरीरम्' इति पाठः।

शश्वद्भृशव्यसनितामपि मेऽवधार्य
धत्से कथं परमकारुणिकोऽप्यवज्ञाम्।
किं नाथ पश्यसि न यत्परिहृत्य शङ्का
लग्नोऽनिशं शिव शिवेति मम प्रलापः ॥26॥

रक्तार्द्रचर्मवसनाय महाश्मशान-
धाम्नेऽस्थिभूषणवते[1] फणिकङ्कणाय।
रक्षः पिशाचसचिवाय बलिं प्रयामो
रूपाय ते हर युगान्तनिशाचराय ॥27॥

दिव्योत्तरीयभृति कौस्तुभरत्नभाजि
देवेऽपरे[2] दधतु लुब्धधियोऽनुबन्धम्।
रूपं दिगम्बरमखण्डनृमुण्डचूडं
भावत्कमेव[3] तु बतेश मम स्पृहायै ॥28॥

जीवामि चेदथ पृथुप्रियविप्रयोग-
रोगादयो नरकदुःखभियोऽन्यथापि।
घ्नन्त्येव मामुभयथाप्यसुखोऽहमित्थ-
मत्रोचितं हर चरस्व कृपालुतायाः ॥29॥

यत्रेन्द्रियाणि विरमन्ति निजक्रियाभ्यो
यात्यान्तरोऽपि करणप्रसरोऽवसादम्।
प्राणास्त्रुटन्ति च समस्तनिराशभूतं[4]
मामेत्य शंकर कुतोऽपि[5] तदा दयेशाः ॥30॥

स्वाशेषपूर्वदुरितस्मरणादुदेति
यत्रासमं भयमसुप्रशमप्रसङ्गे।

1. 'भूषणभृते' इति ख-पाठः।
2. विष्णौ।
3. 'भावत्कमेव भवतीश' इति क-पाठः।
4. मरणेऽपि।
5. 'तदापि कुतो' इति ख-पाठः।

कः कांदिशीकमनसः शरणं तदा मे
स्वामिंस्तवैव समयः स कृपालुतायाः ॥31॥
अद्यैव यामि शरणं परमेश्वर त्वां
शक्ष्यामि[1] किं ननु तदा हतसर्वशक्तिः ।
मृत्युर्यदा मम भयाय [2]पतत्यकस्मा-
दन्धस्य वक्त्र इव हस्ततलप्रहारः ॥32॥
आर्तिक्षणे सपदि विस्मर तात मात-
रित्यादिकं[3] च विफलं कृपणप्रलापम्[4] ।
शर्वेश शंकर शिवेति नुतिं भजस्व[5]
जिह्वे यतो विघटतेऽखिलदुःखभारः ॥33॥
स्वास्थ्ये मदात्कति न [6]दुश्चरितानि नाम
नाथ व्यधां गतविवेकतया विशङ्कः ।
संस्मृत्य मृत्युभयमद्य तु विह्वलोऽस्मि
श्रीकण्ठ भोक्तुमपि येन न पारयामि ॥34॥
पूर्वं न चेद्विरचिता तव[7] देव सेवा
[8]तेनैव नैव दयसे श्रयतो ममार्तिम् ।
किं प्रागसंस्तुत इति प्रतिपन्नमूल-
च्छायं गतश्रमरुजं न तरुः करोति ॥35॥
ज्ञानप्रकाशसुलभं शिव दर्शनं ते
जात्यन्धतैव च परं मम तद्वियोगात् ।

1. 'शक्यामि' इति क-पाठः ।
2. 'पतेदकस्मा' इति क-पाठः ।
3. 'रित्यादिकोक्तिविफलं' इति क-पाठः ।
4. 'मुखर-प्रलापम्' इति ख-पाठः ।
5. 'श्रयस्व' इति क-पाठः ।
6. 'नादशतानि नाम' इति क-पाठः ।
7. 'त्वयि' इति क-पाठः ।
8. 'किं तेन नैव' इति क-पाठः ।

तत्तां त्वमेव किल कामपि देहि[1] युक्तिं
व्यक्तिं ययैष्यसि[2] मम श्रममन्तरेण।।36।।
प्राप्येदृशीमपि मनुष्यदशां न पुण्ये
ज्ञानेऽथवा विधिहतोऽप्यगमं प्रतिष्ठाम्।
सामग्र्यसावथ कुतः पुनरप्यतो मां
स्वामिन्नधन्यमनुकम्पितुमर्हसि त्वम्।।37।।
लीनेन भूरिविषयाध्वनि सौख्यलोभा-
न्नामापि मोहितधिया कलितं न मृत्योः।
आसीदतः सपदि तद्भयतो मया किं
शक्यं विधातुमहहा[3] महदाकुलोऽस्मि।।38।।
या विक्रिया यमभटभ्रुकुटिच्छटानां
पीडाश्च[4] या नवनवा नरकावनीषु।
ता निर्विशन्भव कथं भवितास्म्यमुत्र
कुत्र व्रजामि शरणं कतरं[5] प्रपद्ये।।39।।
स्मृत्वाप्यहो रविजकिंकृतहुंकृतीनां[6]
मुह्यामि यामि विलयं भयविह्वलात्मा।
आसन्नमेवमहहा विषयं पुरस्ता-
त्तत्का गतिर्मम कुकर्मनिमग्नवृत्तेः[7]।।40।।
आसन्नपापशतसंभृतघोरपीडः
क्रन्दाम्यनन्यगतिकत्ववशात्पुरस्ते।

---

1. 'देहयुक्तिं' इति क-पाठः।
2. 'यथैष्यति' इति क-पाठः।
3. 'विधेयमहहा' इति ख-पाठः।
4. 'या यातनाश्च विषमा नरकावनीषु' इति क-पाठः।
5. 'कतरत्' इति क-पाठः।
6. 'हुंक्रियाणां' इति क-पाठः।
7. 'निमग्नमूर्तेः' इति क-पाठः।

तस्मात्कथं न दयसे त्वरितं कुतश्चि-
दागत्य[1] विश्रमय सान्त्वय मां वराकम् । ।41 । ।

पश्यन्समानवयसोऽपि यवीयसोऽपि
नक्तंदिवं [2]यमभटैरपि नीयमानान् ।
आत्मन्यभूवमजरामरताभिमानी
यद्विप्लवादकरवं न शुभं कदाचित् । ।42 । ।

द्वारे लुठामि करुणं प्रलपामि शंभो
वाञ्छामि चुम्बितुमथो परिरभ्य च त्वाम् ।
[3]वातूलतामुपगतोऽस्मि तवानुरागा-
द्वा दुःसहस्त्वयि ममैष दृढोऽनुरागः । ।43 । ।

कण्ठेऽर्पयत्युरगपाशमसूयया मे
यामिन्यधीशशिख यत्समये कृतान्तः ।
नूनं तदा मुहुरुपैमि फणीन्द्रहार
त्वत्तुल्यतामिति[4] भजे मरणेऽपि हर्षम् । ।44 । ।

चित्तं न [5]पारदमिव क्षणमुञ्झतीदं
चाञ्चल्यविप्लवमयुक्तिविदः प्रभो मे ।
तस्माकथं भवति भक्तिरसस्य सिद्धिः
कस्तां[6] विना च भव घोरविपद्विनाशः[7] । ।45 । ।

स्वामिन्ननुद्गतविवेकलवोऽकृतात्मा
तिर्यग्वदेव दिवसानतिवाहयामि ।

---

1. 'उद्गत्य' इति क-पाठः ।
2. 'यमभटैरपनीयमानान्' इति ख-पाठः ।
3. 'वातूलतामिव गतोऽस्मि' इति ख-पाठः ।
4. 'त्वत्तुल्यतामिव' इति क-पाठः ।
5. 'पारतमिव' इति पुस्तकद्वयेऽपि पाठः । काश्मीरकाः 'पारद' इत्यस्य स्थाने 'पारत' इत्येव सर्वत्र पठन्ति ।
6. 'कस्त्वां' इति क-पाठः ।
7. 'विरामः' इति क-पाठः ।

नेता क्षणाच्च वशमन्तकसौनिको मा-
माशैव तन्मम कुतः [1]सुगतिप्रसक्त्यै।।46।।
दुःस्वप्न एव विषमो भवदुःखनामा
स्वामिन्कथं त्यजति मां विगतप्रबोधम्।
यस्मान्ममानवरतश्रुतभूरिशास्त्र-
तूर्यस्वनैरपि न शाम्यति मोहनिद्रा।।47।।
कृत्वा पापमसावपोष्यत निजः कायो न दीनो जनो
[2]वैवश्याल्लुठितं चिरं चरणयोः स्त्रीणां गुरूणां न तु।
लोभोऽकारि मया धने न सुकृते तेनानुतप्ये मह-
त्किं शक्यं मम तत्र[3] कर्तुमधुना नाथ त्वमेका गतिः।।48।।
अहं पापी पापक्षपणनिपुणः शंकर भवा-
न्नहं भीतो भीताभयवितरणे ते व्यसनिता।
अहं दीनो दीनोद्धरणविधिसज्जस्त्वमितर-
न्न जानेऽहं वक्तुं कुरु सकलशोच्ये मयि दयाम्।।49।।
[4]इति परिहृतवान्स्वकाव्यशिल्पप्रकटनमाकुलितो भवव्यथाभिः।
व्यधित गिरिश [5]रम्यदेवजन्मा तव पुरतो हठदैन्यतः [6]प्रलापान्।।50।।
[7]एतत्तीव्रं व्रतमुपचितं सैकते सिद्धसिन्धो-
र्वाराणस्यां [8]शमदमदृशोरेष गाढोऽनुबन्धः।
दीनाक्रन्दं प्रति पशुपतेरुद्यमश्चाटुकानि
त्यक्त्वा राज्ञां वत मम शुभैस्तन्यते धन्यतेयम्।।51।।
[9]अभ्रंशे जन्म वंशे सुमहति विहितो वाङ्मयाब्धौ हनूम-

1. 'स्वगति' इति ख-पाठः।
2. 'वैवश्याल्लडितं' इति क-पाठः।
3. 'तत्र संप्रति पुनर्नाथ' इति क-पाठः।
4. ख-पुस्तकेऽस्य श्लोकस्याग्रिमस्य च पौर्वापर्यमस्ति।
5. 'देवरम्यजन्मा' इति ख-पाठः।
6. 'प्रलापम्' इति ख-पाठः।
7. 'एतत्तीव्रव्रत' इति क-पाठः।
8. 'शमदमदिशो' इति ख-पाठः।
9. ख-पुस्तकेऽस्य श्लोकस्याग्रिमस्य च पौर्वापर्यमस्ति।

त्संरम्भो दानभोगौ तदुन च रचितौ किंचिदौचित्यरीत्या।
ज्ञात्वा तत्त्वं यतित्वं श्रितमथ मथिता संसृतिर्दुनिवारा
वाराणस्यां [1]प्रसन्ना स्थितिरिति कृतिनः किं न मे नाम सिद्धम्।।52।।
ईर्ष्यायै परवादिनां कविकलाकान्ता यतिं मामियं
यच्चुम्बत्यधुनापि तन्मयि भवत्यब्रह्मचर्यं न[2] किम्।
एतावत्स्खलितं क्षमस्व भगवन्भूयोऽपि तुभ्यं शपे
श्रीविश्वेश्वर देव नैव भवितास्म्यस्य रहस्यातिथिः।।53।।
नासत्यव्यतिरेकतोऽक्षरमपि प्रायुङ्क्त यद्भारती
नैवान्यत्परबाधतो यदसकृत्संचिन्तितं चेतसा।
[3]नाकृत्यादितरत्र गात्रमतनोच्चेष्टां यथेष्टां च य-
त्सर्वत्रापि मया त्वमेव शरणं [4]तत्राश्रितो धूर्जटे।।58
इति लोष्टा[5]कभट्टविरचितं दीनाक्रन्दनस्तोत्रं समाप्तम्।

---

1. 'प्रसिद्धा' इति ख-पाठः।
2. 'नु' इति क-पाठः।
3. 'नौचित्यादितरत्र' इति क-पाठः
4. 'तत्राश्रिता जाह्नवी' इति ख-पाठः।
5. 'पण्डितभट्टलोष्टक विरचितं? इति क पाठ

10. [1]काश्मीरकमहाकविश्रीकह्लणकृतम्
अर्धनारीश्वरस्तोत्रम्[2]

भालं वह्निशिखाङ्कितं दधदधिश्रोत्रं वहन्संभृत-
क्रीडत्कुण्डलि जृम्भितं जलधिजच्छायाच्छकण्ठच्छविः।
वक्षो विभ्रदहीनकञ्चुकचितं बद्धाङ्गनार्धस्य वो
भागः पुंगवलक्ष्मणोऽस्तु यशसे वामोऽथवा दक्षिणः।।1।।
वामे साञ्जनमक्षि दक्षिणदिशि श्यामायमानो गलः
पाणौ तिष्ठति दर्पणोऽत्र मुकुटेऽमुत्र स्थितश्चन्द्रमाः।
तन्मातेयमयं पितेति सुचिरात्सप्रत्यभिज्ञं शनै-
र्यस्योत्सङ्गमगाद्गुहो भवतु वः प्रीत्यै स गौरीश्वरः।।2।।
मुञ्चेभाजिनमस्य कुम्भकुहरे मुक्ताः कुचाग्रोचिताः
किं भालज्वलनेन कज्जलमतः कार्यं तवाक्ष्णोः कृते।
संधाने वपुरर्धयोर्भगवतोरित्थं निषेधेऽप्यहेः
कर्तव्ये प्रिययोत्तरानुसरणोद्यक्तो हरः पातु वः।।3।।
विहितमजगोशृङ्गाग्राभ्यां धनुर्घटितं तथा
नरकरटिनोर्देहार्धाभ्यां गणं प्रतिगृहतः।
द्विविधरचनावाल्लभ्यानां निधेरुचिता विभो-
र्जयति लटभापुंभागाभ्यां शरीरविनिर्मितिः।।4।।
नेदं पर्णसमीरणाशनतपोमाहात्म्यमुक्षोरगौ
पश्यैतावत एव संप्रति कृतौ तन्मात्रवृत्ती बहिः।

---

1. सुप्रसिद्धोऽयं कविवरः खिस्तद्वादशशताब्द्यामेनं ग्रन्थं प्रणिनिनाय। अधिकं त्वेतद्विषये Dr. M.A. Stein, Ph., D., महाशयविरविरचितराजतरङ्गिणीभूमिकातोऽवसेयम्।
2. यह स्तोत्र 'काव्यमाला' के चतुर्दश गुच्छक में प्रकाशित है। इसके प्रकाशक चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी (1987) है।

प्रेम्णैवार्धमिदं चराचरगुरोः प्राप्तेयमात्मस्तुती-
रित्थं देववधूमुखाच्छ्रुतिसुखाः शृण्वत्यपर्णावतात् ।।5।।
काप्येतेषु रुचिः कचेषु फणिनां पुंस्कोकिलस्येव ते
गोभिः कण्ठतटस्य हृष्यति पुरो दृक्पश्य चक्षुः श्रुतेः ।
संधानेऽभिनवे मिथो भगवतोर्जिह्मा पृथक्स्पर्धिनी
भिन्नार्था सदृशाक्षरामपि वदन्त्येवं गिरं पातु वः ।।6।।
दातुं वाञ्छति दक्षिणेऽपि नयने वामः करः कज्जलं
भौजंगं च भुजेऽङ्गदं घटयितुं वामेऽपि वामेतरः ।
इत्थं स्वं स्वमशिक्षितं भगवतोरर्धं वपुः पश्यतोः
साधारस्मितलाञ्छितं दिशतु वो वक्त्रं मनोवाञ्छितम् ।।7।।
गाढालिङ्गन मङ्गलं भवतु ते स्वस्त्यस्तु वश्चाटवः
किं ब्रूमः प्रियया विलासकलह श्रद्धेय एवासि न ।
इत्युक्ते निबिडप्रवासचकितैर्यावद्गणैः स्थीयते
संघट्टः शिवयोः स तावदधिकस्पष्टः शिवायास्तु वः ।।8।।
तदर्धनारीश्वरमूर्धरत्नमर्धं विधोरस्तु समृद्धये वः ।
यदद्रिकन्यावदनातिरिक्तद्वितीयभागभ्रममातनोति ।।9।।
तद्वीतव्यतिरेकमद्रितनयादेहेन मिश्रीभव-
न्निष्प्रत्यूहमिह व्यपोहतु वपुः स्थाणोरभद्राणि वः ।
वेण्या भोगिवधूशरीरकुटिलश्यामत्विषा वेष्टिता
जूटाहेरपि यत्र भाति दयितामूर्त्येव पृक्ता तनुः ।।10।।
प्रौढाः कञ्चुकिनो जरद्वृषवरः कुब्जस्तुषारद्युति-
र्नित्याप्तोऽपि बहिष्कृतः परिकरः सोऽयं समस्तोऽप्यहो ।
अर्धाद्यद्वसतीकृताद्भगवता चारित्रचर्याविदा
सा भिद्याद्दुरितं चराचरगुरोरन्तः पुरं पार्वती ।।11।।
लीलोद्यानवनश्मशानगमने स्वेच्छापराधीनयोः
सम्यक्साम्बरतादिगम्बरदशासव्रीडनिर्व्रीडयोः ।
पर्याप्तातुलरामणीयकमहाश्रीभैरवाकारयोः

क्षेमं वः शिवयोः समासमदृशोर्दिश्यादचिन्त्यं वपुः ।।12।।

चूडेन्दोरिव रोचिषा मुकुलितं वातायनाभं श्रियः
पानार्थं परिषेवितं मधुकराकारैः कुमाराननैः ।
औन्नत्यादधिवास्य वक्रपवनैर्घ्राणोपयोगीकृतं
कस्योरोजसरोजमस्ति न मनस्तोषाय गौरीशयोः ।।13।।

अर्धं स्निग्धविमुग्धमिद्धहुतभुग्दिग्धं तथार्धं जग-
त्पायादीश्वरयोस्तदक्षि तिलकस्थानस्थितं वीक्ष्य यत् ।
क्रीडाकर्मणि कार्मुकं करतले कर्तुं किरीटेन्दुना
सोत्सेकश्च निरुत्सुकश्च युगपद्देवः स्मरो जायते ।।14।।

व्याला वायुभुजस्तृणेढि च तृणान्युक्षा बुभुक्षातुरो
निष्कौपीनपटः कुटुम्बभरणो किं त्वस्मि चिन्ताकुलः ।
दौर्गत्यादिति पिण्डमेकमकरोद्गौरीशरूपेण यो
यश्चाभीष्टफलप्रदस्त्रिजगतः कस्मैचिदस्मै नमः ।।15।।

ज्याघोषैर्बधिरीकरोति ककुभो बाहू मुहुः पश्यति
स्वस्य स्वेन विकत्थते रचयति प्रोच्चैस्तरां तर्जनीम् ।
यस्मिन्केवलमेव केलिरभसाज्जातेऽर्धनारीश्वरे
वीरंमन्यतया समन्मथभटो वातूलितस्तं स्तुमः ।।16।।

वपुःखण्डे खण्डः प्रतिवसति शैलेन्द्रदुहितुः
शिखण्डे खण्डेन्दुः स्वयमपि विभुः खण्डपरशुः ।
तथापि प्रत्यग्रं शरणमुपयातं प्रति विभो-
रखण्डो व्यापारो जगति करुणाया विजयते ।।17।।

प्रेमार्धं वपुषो विलोक्य मिलितं देव्या समं स्वामिनो
मौलो यस्य निशापतिर्नगसुतावेणीनिशामिश्रितः ।
आस्ते स्वाम्यनुवर्तनार्थमिव तत्कृत्वा वपुः खण्डितं
देयादद्वयभावनां स भगवान्देवोऽर्धनारीश्वरः ।।18।।

इति महाकविश्रीकह्लणप्रणीतमर्धनारीश्वरस्तोत्रम् ।

11. काश्मीरिकश्रीमदवतारकविप्रणीतं[1]
ईश्वरशतकम्।[2]

सटीकम्।

स वः पायाद्येन निन्ये वासुकिर्निजहारताम्।
तपोपायात्तनुं कोपाद्यः स्मरस्य जहार ताम्।।1।।

स वः पायादित्यादिग्रन्थारम्भे त्रिविधविघ्नोपघातार्थं कविना नमस्कारवाक्यवदुचितं सूचितम्। येन भगवता स्वतन्त्रेण धराधराणयोग्यो वासुकिर्हारतां नीतः। एतेन विश्वाधारत्वं ध्वनितम्। तथा तपोपायात्संयमविघ्नविधायित्वात् न त्वीर्ष्यया कोपात्तां विश्वस्य प्रसिद्धां स्मरस्य तनुं जहार दिदाहेति प्रतीयते। तामित्यनुभवगोचराम्। अत एव यच्छब्दोपादानं न कृतम्। यदाहुः— 'प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते'। तत्र नमस्कारः स्वातन्त्र्यकर्तृत्वाद्भगवतः सर्वातिशायित्वादर्थादिवाक्षिप्तः।।1।।

रक्षावतारं गम्भीरं भवमुग्रं हरेश्वर।
नय नीतिगुणं तं तु ममताप्रियतामिमाम्।।2।।

---

1. सटीकस्येश्वरशतकस्य प्रणेता श्रीमदवतारकविः कश्मीरेषु कदा समुत्पन्न इति न निश्चयः किन्तु स्तुतिकुसुमाञ्जलिटीकाकर्तृ राजानकरत्नकण्ठस्य पितामहोऽप्यवतारनामासीदिति 'सकलविपश्चिद्वर्यः प्रज्ञाजितवृत्रहामात्यः। अवतारोऽजनि तस्मात्पाण्डित्यस्यावतार इव।।' इति स्तुतिकुसुमाञ्जलिटीकासमाप्तिस्थार्यातः प्रतीयते, रत्नकण्ठेन च स्तुतिकुसुमाञ्जलिटीका 1738 मिते विक्रमाब्दे प्रणीतेति तत्रैव स्फुटम्, अतोऽवतारोऽपि 1622 मितख्रिस्ताब्दासन्नकाल आसीत्। यदि स एव सटीकस्यास्य शतकस्य निर्मातावतारकविः स्यात्तदा निर्णीत एवं तत्सत्तासमयः, सटीकस्यास्य शतकस्य पुस्तकद्वयमस्माभिरासादितम्। तत्रैकं श्रीयुतभाण्डारकरपण्डितैः पुण्यपत्तनस्थराजकीयपुस्तकालयात्कृपया प्रहितम्। अपरं कश्मीरनगराज्ज्योतिर्विदुपाह्वश्रीदयारामपण्डितैः प्रेषितम् पुस्तकद्वयेऽपि प्रायो नास्ति भेदः, द्वयं च कश्मीरलिखितमिति समानमातृकमेवेति प्रतीयते। एतदाधारेणैवैतन्मुद्रणमुपक्रम्यत इति शिवम्।
2. यह स्तोत्र चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी (1987) में पुनर्मुद्रित है।

हे ईश्वर परमात्मन् तदुक्तम्—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'। तत्संबोधनम्। भवं संसारं गम्भीरं त्वं हर निवारय। कथंभूतं भवम्। उग्रं कठिनम्। त्वं भक्तानामवतारमवतरणं भवात्पुनः पुनरागमनं रक्ष। कविना च अवतारमवतारनामानं मां प्राहीति स्वनाम ध्वनितम्। तु प्रश्नान्तरे। इमां प्रत्यक्षां सर्वेषां ममताप्रियतामहंकृतिहेवाकितां तं प्रसिद्धं लोकोत्तरं नीतिगुणं नय प्रापय। अत्र च रक्ष अव, तारं गम्भीरं, भवं उग्रं, हर ईश्वर, नय नीति, गुणं तन्तुं, अमत अप्रिय, इति द्वयोर्द्वयोः शब्दयोरर्थस्य पौनरुक्त्यमिवावभासते। भिन्नार्थत्वात्तु पुनरुक्तवदाभासः। 'आमुखावभासनं तु पुनरुक्तवदाभासम्' इति।।2।।

वदामि ते स्वं रमयन्नमोऽहं वहामि संसारमयं न मोहम्।
तनुर्मुदायोगवता स्मितेन मुक्तः स्फुरद्योग बतास्मि तेन।।3।।

अहं ते तुभ्यं नमो वदामि नमस्कारं करोमि। अनेन कायवाक्चित्तानां प्रह्वीभावः सूचितः। अत एव स्वमात्मानं रमयन्नानन्दयन्संसारमयं मोहमज्ञानरूपं न वहामि। यदुक्तम्—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' इति। हे भगवन्स्फुरद्योग, बत आश्चर्ये। अहं तनुस्तुच्छो ऽपि मानुषादज्ञानात् मुदां हर्षाणां निरतिशयप्रीतिरूपाणाम् आसमन्तात् योग आयोगः तद्वता मुदायोगवता स्वानुभवैकगोचरेण स्मितेन अभिमतप्राप्त्या हसितेनोपलक्षितः सन्मुक्तोऽस्मि। यमकम्।।3।।

सृष्टिस्थिती प्राग्भजता कृतापवर्गोद्यमेनाथ भवान्धकारे।
धृतं त्वया विश्वमतो हतारिवर्गोऽद्य मे नाथ भवान्धकारे।।4।।

हे नाथ हे अन्धकारे अन्धकासुररिपो, प्राक् सृष्टिस्थिती भजता कुर्वता त्वया अथानन्तरं भवान्धकारे संसाररूपान्धकारे कृतापवर्गोद्यमेन कृतो भक्तानामपवर्गार्थमुद्यमो येन तथविधेन। त्रिविधकृत्यकारिणा त्वयैव विश्वं धृतम्। अतो ममापि अद्य हतारिवर्गो भव हता अरयो मुख्याः कामादयो येन तादृशः। पादयकम्।।4।।

सज्जातसज्जाततलोचनाग्नेः संध्यातसंध्यातपसा सुरौघैः।
माधीनमाधीनपरिग्रहेण कालेन कालेन हतं कृथा माम्।।5।।

सत् अकृत्रिमं जातं जन्म यस्य स सज्जातः सज्जः संनद्धः आततो विस्तीर्णो विश्वव्यापित्वाल्लोचनाग्निर्यस्य तदामन्त्रणं सज्जातसज्जाततलोचनाग्ने। तथा सुरौघैर्ब्रह्मविष्णुप्रभृतिभिर्देवसमूहैः संध्यातपसा त्रिसंध्यं समाधानेन संध्यात सम्यग्ध्यातः। कालेन असितवर्णेन भयंकरेणेति यावत्। तथा आधीनपरिग्रहेण आधीनां मनः पीडानां ये इनाः स्वामिनो ज्वरादयो रोगास्तेषां परिग्रहः परिवारो यस्य स तादृशेन कालेन मृत्युना हतं सन्तं मां माधीनं कृथाः संपादय। (यद्वा) मायाः शोभाया आधीनमायत्तं माधीनम्। श्वेतराजर्षिवदित्यर्थः। आदियमकम्।। 5।।

भवोत्सुकानामसमाधिभिन्नः कश्चिन्मदन्यो न समाधिभिन्नः ।

ये त्वां प्रशंसन्ति सदा सभार्यास्त एव जीवन्ति सदासभार्याः ।।6।।

त्वं नोऽस्माकमुत्सुकानां सोत्कण्ठानामसमाधिभित् असमा अनल्पा ये आधयो मनोरुजस्तान्भिनत्तीति तादृक् भव संपद्यस्व। यतो मत्सकाशात् अन्यो जनः समाधिभिन्नश्चित्तैकाग्र्यबहिष्कृतो नास्ति। ये त्वां सदा सर्वकालं सभासु मध्ये अर्या निष्पापाः प्रशंसन्ति स्तुवन्ति। त एव सदासभार्याः सह दासै भार्यया च वर्तन्ते ये ते सपरिवारा इत्यर्थः। जीवन्ति। पुनः संसारावृत्तिं न लभन्ते। अनश्वरपदप्राप्तेः। अन्ये तु संसारिणो नानाजन्मोपलब्ध्या जीवन्तोऽपि मृता एव। 'ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवदपरे जन्तवो जातनष्टाः' इति यावत्। आदियमकम्।।6।।

दैत्यद्विषां त्वच्चरणावलीनामिवाम्बुजे भग्नरणावलीनाम् ।

स्तुवन्त्यतो निःशरणा बलीनां त्वन्मूर्तिमीतेः सरणावलीनाम् ।।7।।

दैत्यद्विषां देवानां त्वच्चरणौ अलीनां भ्रमराणामिवाम्बुजे पद्मे भवतः विश्रान्तिस्थानं मनोभिलषितप्राप्तेः स्त इत्यर्थः। कथंभूतानां दैत्यद्विषाम्, भग्नाः पराजिता रणावलयः संग्रामसमूहा यैस्तथाविधानाम्। अतो हेतोः निःशरणा मादृशा अपि ईतेः संसारोपद्रवस्य सरणौ मार्गे अलीनामश्लिष्टां त्वन्मूर्तिं स्तुवन्ति। कथंभूताम्। वबयोरैक्याद्बलिनामिनां स्वामिनीम्। तदधिष्ठातृत्वात्। सर्वपादान्तयमकम्।।7।।

भवेतिभिन्नः कुलपामराणां भवेऽतिभिन्नः कुलपामराणाम् ।

सदासकान्ताय न मोहराय सदा सकान्ताय नमो हराय ।।8।।

हे अमराणां देवानां कुलप, त्वं नोऽस्माकं कुलमध्ये पामराणामयोग्यत्वाद्बालिशानामीतिभित् दुर्गतिनिहन्ता भव। अतस्त्वमेव भवे संसारेऽतिभिन्न उत्तीर्णः। सह दासैर्वर्तते कान्तश्च यः। सर्वाभिलाषदायित्वात्। सदासकान्तः। तस्मै। तथा मोहं राति ददाति मोहरः अज्ञानदायी। न मोहरः तस्मै न मोहराय। सदा सर्वकालं सकान्ताय निजशक्तिपरिवृताय हराय नमः। संपुटयमकम्।।8।।

राजते विष्टपाकारा राकापाहिफणावरा ।

रावणाराधिताक्षारा राक्षाताम्राक्षि तेऽजरा ।।9।।

पद्मबन्धः ।।

तनुरद्रिसुताकान्त कान्तलावण्यवाहिनी ।

वाहिनीवामृतमयी मयीह विमलातनुः ।।10।।

श्रृङ्खलायमकम् ।। (युग्मम्)

हे अद्रिसुताकान्त पार्वतीश, तव संबन्धिनी तनुर्मूर्तिः राजते। कथंभूता। विष्टपाकारा विष्टपं जगत् तदाकारा। तथा राकापः पूर्णचन्द्रः तथा अहिफणाः ताभिर्वरा उत्कृष्टा। तथा रावणेनाराधिता सेविता। अक्षारा न क्षारा। (मधुरा) सौम्यस्वभावेत्यर्थः। तथा राक्षा लाक्षा तद्वत्ताम्रमक्षि यत्रेति क्रियाविशेषणम्। राक्षाताम्राक्षि राजते इत्यर्थः। तथा अजरा जन्मादिरहितत्वात्। कान्तलावण्यवाहिनी अमृतमयी वाहिनी नदीव। अतनुर्बहला। युगलकम्। आद्यः श्लोकः पद्मबन्धः। द्वितीयः शृङ्खलायमकम्। ।9। ।10। ।

दरवति वरदय भटभयदपणक्षणपथरथपर पुरशरसमरे।
मदमयरणरय जय जय स्वमत क्षतमखसुरवरसुखद शिव। ।11। ।

महादेवबन्धः। जागेश्वरबन्ध इत्यर्थः।

हे शिव, त्वं जय जय। किंविध। दरवति सभये मादृशे वरदय वरा उत्कृष्टा दया यस्य। अन्धकादीनां विश्वकण्टकानामपि पुनर्दयया गाणपत्यप्रतिपादकत्वात्। तथा भटानां भयदः पणो व्यवहारो यस्य तादृशः। तथा क्षणं पन्था यस्य तादृग्यो रथस्तत्र पर उद्योगवान् तदामन्त्रणं भटभयदपणक्षणपथरथपर। तथा पुराणां त्रिपुराणां शरसमरे बाणयुद्धे मदमयः साहंकारो रणरयः संग्रामवेगो यस्य तदामन्त्रणम्। तथा खमत खानामिन्द्रियाणां मताभिप्रेत। तदधिष्ठातृत्वात्सर्वेन्द्रियाणाम्। तथा क्षतो मखो दक्षाध्वरो येन। तथा सुरवराणां सुखं ददातीति तत्संबोधनम्। ।11। ।

क्रूरा नराणां भवता शोधनीयाविभागतिः।
चराचराणां भवता बोधनीया शुभा मतिः। ।12। ।

क्रूरा दुःसहा संसारे रता नराणां भक्तानां भवता स्वामिना अविभागतिस्तामसी गतिः शोधनीया। चराचराणां जङ्गमस्थावराणां शुभा मतिर्भवतैव बोधनीया। अयं गोमूत्रिकाबन्धः। ।12। ।

नरकं कालमालाभरणा हि तरसा श्रिताः।
नरकङ्कालमालाभरणाहितरसाश्रि ताः। ।13। ।

काञ्चीगोमूत्रिकाबन्धौ समुद्गयमकम्। ।

ततेतितति तातैता मम मा मामिमाममाः।
ललल्लोलालिलीलालैरुरुरोरारैररम्। ।14। ।

पादैकाक्षरः। ।

यमवाराङ्गनाः कान्तैरवसादरतापदैः।
समं त्रस्ता भवभक्तिरवसादरतापदैः।।15।।

त्रिभिः श्लोकैर्वाक्यार्थतिलकम्।।

हे तात पूज्य, ता यमवाराङ्गना मृत्युस्त्रियो भवद्भक्तिरवसादरतापदैः भवति विषये यानि भक्तिरवाणां सादरता तस्याः पदानि वाक्यानि तैः त्रस्ता भीताः कान्तैर्भर्तृभिः समं सह। कथंभूतैर्भर्तृभिः। अवसादरतापदैः अवसादं विनाशं रान्ति ददति तापं च ददति तादृशैर्भर्तृभिः साकं त्रस्ता भीताः। भवदीयभक्तजनस्तुतिवाक्यं श्रुत्वैव त्रस्ता इत्यर्थः। इमां मम संबन्धिनीं मां लक्ष्मीं मा एता न प्राप्ताः माशब्दो निषेधार्थः। अमा अश्रीकाः। पुनः कथंभूताः। तरसा बलेन हि निश्चयेन नरकं श्रिताः। तता विस्तीर्णा या ईतिततय ईतीनां विघ्नानां ततयः समूहा यत्र तथाविधं कृत्वा कालमालाभरणा कालस्य मा लक्ष्मीस्तल्लाभार्थं रणो यासां तथाविधाः। पुनः कथम्। नरकङ्कालमालाभरणाहितरसाश्रि। नराणां कङ्कालमालाभिर्यान्याभरणानि तैराहितः रसाश्रिः रसपर्यन्तो यत्र तथा। पुनः कथंभूतैर्भर्तृभिः। ललल्लोलालिलीलालैः ललन्त उल्लसन्तो लोलाश्च तेऽलयस्तल्लीलां लान्ति कृष्णत्वात् ये तैः। उरुरोरारैः उरु बहुलं च तत् रोरं दारिद्र्यं उरुरोरं तथा अरीणां समूह आरं उरुरोरं च आरं च तत् उरुरोरारं तं रान्ति ददति तथाविधैः। अरमत्यर्थम्। अत्र वाक्यार्थतिलकेन प्रथमः समुद्रकयमकं काञ्चीगोमूत्रिकाबन्धौ च। द्वितीयः पादैकाक्षरः। तृतीयः पादयमकम्।।13।।14।।15।।

प्रलापिनं मा रसेनाभयप्रद यमाकुलम्।
आगत्य त्वरितं तीव्रप्रभावोचितविग्रह।।16।।

हे तीव्रप्रभ, तथा उचितविग्रह, अभयप्रद, त्वं मा कर्मभूतं अव रक्ष। केन। रसेनादरेण। मा कीदृशम्। यमाकुलं यमादाकुलम्। तथा प्रलपति तच्छीलः प्रलापी तं प्रलापिनम्। त्वरितमागत्य। गूढकर्मक्रियोऽयं श्लोकः।।16।।

चिरार्तिचित्तेतिचितैरिताराच्चराचराचारचरित्रचार।
रैचारुता चित्रतराचिरार्चीरीतिं रतारैरुरुचौररोरैः।।17।।

त्र्यक्षरः।।

हे भगवन् चराचराचारचरित्रचार, चराचराणां जङ्गमस्थावराणां यदाचारचरित्रं तत्र चारश्चरणं यस्य तत्संबोधनम्। रैचारुतायां धनानां चारुता ऐश्वर्यं चित्रतरा साश्चर्या क्षणिकत्वादचिरार्चिषो विद्युतो रीतिमिता प्राप्ता। कैः हेतुभूतैः। उरवो बहला ये चौरास्तथा रोराणि दारिद्र्याणि (तैः) उरुचौररोरैः। कैः रतारैः रतस्य

चित्तविश्रान्तेराराणि अरिसमूहा इव तैः। पुनः कथंभूतैः। चिरं या आर्तिस्तथा चित्तेतिश्चित्तबाधा च तया चितैर्व्याप्तैश्चिरातिचित्तेतिचित्तैः। आराद्दूरतः। त्र्यक्षरोऽयं श्लोकः।।17।।

मुदात्तसारा द्युसभासमाना सभासमानाङ्गमुदात्तसारा।

विभावसुस्थान भव प्रभा ते भवप्रभाते रविभावसुस्था।।18।।

व्यावृत्तयमकम्।।

हे भगवन् भव, विभावसोर्नेत्राश्रयस्य वह्नेः स्थान आश्रय, भवप्रभाते संसारोदये सति ते तव संबन्धिनी प्रभा रविभाववत्सुस्था सामस्थ (स्वास्थ्य ?) वती। यतः मुदा हर्षेणात्तं सारं यस्याः मुदात्तसारा। द्युसभायां देवसदसि समाना सह मानेन पूजया वर्तते या। सभासमानानि रुचिराण्यङ्गानि यत्र तथाविधं कृत्वा उदात्तमुद्भटं बलं यस्याः।। व्यावृत्तयमकम्।।18।।

देहान्तकाले स्वरसेन पाहि यमात्प्रभो भास्वरलोचनाज।

शमैकसर्वस्व सभरिकामां मां यच्छ देवेश जहीहि मां मा।।19।।

वज्रबन्धः।।

हे भास्वरलोचन धामत्रयनेत्र, अज अनादे, शमैकसर्वस्व उपशमैकसाधन, त्वं मां देहान्तकाले मरणसमये स्वरसेन कृपया यमान्मृत्योः पाहि। तथा भूरयो बहलाः कामा मनोरथानि यस्यां सा तादृशीं सर्वाभीष्टप्रदां मां लक्ष्मीं यच्छ वितर। मां च मा जहीहि। मा परित्यज।।वज्रबन्धः।।19।।

तनुस्त्वदीया भगवन्स्मरारे रसासुखं मुक्तिमुखं सुसार।

शुभावहा भक्तिपराणयानां सादान्तताकृत्तकृतान्तदासा।।20।।

हे भगवन् सुसार शोभनबल, स्मरारे, तव संबन्धिनी तनुर्मूर्ती रसायां सुखं लक्षणया भूतलस्थानां जनानां सुखदायिनी। तथा मुक्तिसुखम्। भोगमोक्षप्रदेत्यर्थः। अत एव भक्तिपरायणानां शुभावहा। तथा सादस्यावसादस्यान्तताविच्छेदस्तेन हेतुना कृताश्छिन्नाः कृतान्तदासा यमभटा यया। त्वद्भक्तेभ्यस्ते निराशाः पलायन्ते नन्दिरुद्रवत्।।20।।

स्थिरासुरापक्षपरा सुरास्थिमालावरासन्नसरावलामा।

वादे हिता मन्त्रमताहिदेवातिभाविता नुत्यनुता विभाति।।21।।

प्रतिलोमानुलोमपादः। युगलकम्।।

त्वदीया तनुरित्यनेन पूर्वश्लोकस्थेनान्वयः त्वदीया तनुर्विभाति। कीदृशी। स्थिरायेऽसुरा अन्धकादयस्तेषामपक्षपरा प्रतिपक्षभूता। सुराणां ब्रह्मादीनां चास्थिमालादिभिर्वरा उत्कृष्टा। तथा आसन्ना निकटा सरावा नादयुक्ता लामा उत्कृष्टरूपा देवता यस्यां सा आसन्नसरावलामा। तथा वादे चतुर्दशविद्यास्थानविशारद (विचार) विषये हिता। भक्तविद्वज्जनेभ्य इति शेषः। तथा मन्त्रैर्मननत्राणधर्मादिभिर्देवतोच्चारकपदैर्मता भाविता। यदाहुः—'मन्त्रमूर्तिस्तु देवता' इति। तथा अहिभिर्नागैर्देवैश्चातिभाविता अतिध्याता। तथा नुत्या स्तुत्या ये ब्रह्मादयस्तैरपि नुता नुत्यनुता। एवंविधा त्वदीया तनुर्विभाति। 'अमत्रमता' (इति पाठे) अमत्रेभ्यः पात्रेभ्यो मता अहयः सर्पा। यस्यां तादृशी देवातिभाविता च। (इत्यर्थः)। युगलकम्। आद्यो युक्पादप्रतिलोमः। द्वितीयः प्रतिलोमानुलोमपादः।।21।।

तनोति ते तात नुतौ नितान्तं नूनं नतानां तनुतां न नीतिः।

नेनेन नो नूतनतां तु नीता तेनोन्नतानन्ततनो ततेतिः।।22।।

द्व्यक्षरः।।

हे भगवन्, तात पूज्य, उन्नतानन्ततनो, उन्नता अनन्ताः पृथ्व्यादयस्तनवो मूर्तयो यस्य तत्संबोधनम्। ते तव संबन्धिनी नीतिः नतानां भक्तानां नुतौ स्तुतौ सत्यां नूनं निश्चितं तनुतां लघुतां न तनोति। दाढ्र्यमेव पोषयति। तु पक्षान्तरे। तेन हेतुना इनेनार्थाद्भवता स्वामिना नोऽस्माकं तता विस्तीर्णा ईतिः 'संसारबाधौ नूतनतां नवत्वं न नीता। भवन्नुतिमात्रेण वयं मुक्ता इति सूचितम्। श्लोको ऽयं द्व्यक्षरः।।22।।

हर प्रभो परं वन्द्य रक्षोभागेऽस्थिरो भव।

प्रभावितदमो रोरं भोगातत्त्व सदस्थिप।।23।। अर्धभ्रमः।।

हे प्रभो भव, त्वं रोरं दारिद्र्यं हर निवारय। परमत्यर्थं वन्द्य वन्दनीय। कथंभूतस्त्वम्। रक्षसां हिंसापराणामपि भागे संविभागेऽस्थिरश्चञ्चलः। दानादावपि सर्वलो (प) कहितहेतुना कीलितः। पुनः कथंभूतः। प्रभावितः सर्वजनोपलक्षितो दम इन्द्रियजयो यस्य। तथा प्रभो कथंभूत। भोगातत्त्व भोगा अतत्त्वं यस्य। आभासमानत्वात्। पुनः कथंभूत प्रभो, सदास्थिप सन्तिशोभनान्यस्थीनि भूषणतया पाति रक्षतीति तादृश।। अर्धभ्रमः।।23।।

कार्ष्ण्येन भगवन्नास्ति तव कण्ठच्छवेः समा।

कालिकाकालिकालालीलीलाका परवीरप।।24।। त्रिशूलबन्धः।।

परा उत्कृष्टा ये वीरास्तान्पः पाति तादृश परवीरप। 'वीतरागभयद्वेषो रहितः सर्वसंशयैः। सर्वभूतानुकम्पी च वीर इत्युच्यते बुधैः।।' इति। तव संबन्धिन्याः

कण्ठच्छवेः कान्या समा अस्ति। कीदृशी। कालयः तथा काकानामालयः पङ्क्तयः तथा कालानामाली च तासामिव लीला विच्छित्तिर्यस्यास्तादृशी कृष्णत्वेन।।24।।

मरुर्मेरुरिर्मारोऽमरारामोऽरमोऽरिरः।

मुरारिरामा रोरोऽरमुमारामी ममोरुराः।।25।। द्व्यक्षरः।।

मम मेरुः सर्वदेवताविश्रान्तिस्थानमपि मरुर्निर्जलप्रायो देश इव नावर्जकः। मारः कामोऽपि सर्वजनवल्लभोऽरिः शत्रुः। तथा अमराणां देवानामारामो विश्रान्तिप्रदो नन्दनादिप्रदेशः सो ऽपि अरमः शोभारहितः। अतएव अरिरः अरीन् रातीति असुखत्वाच्छत्रुद इव। मुरारेर्विष्णो रामा लक्ष्मीर्भगवती रोरो दारिद्र्यम्। अरमत्यर्थम्। उमारामी उमया सह योऽवश्यं रमते स पार्वतीवल्लभः स एव उरुराः महदुत्कृष्टं निधानभूतं धनम्।।25।।

विहाय सस्यसंपन्नां सेव्यः स्वामी शिवं भवेत्।

येनाप्यो दिवि पन्थानो राजेनत्वं च तिष्ठति।।26।।

अपशब्दाभासः।।

नोऽस्माकं सस्यसंपन्नां धान्यादिसमृद्धिमत्त्वं विहाय स्वामी विश्वेश्वरः सेवनीयः। येन हेतुना शिवं कल्याणं भवेत्। दिवि च यः पन्थाः स चाप्यः प्राप्यः। राजेनत्वं राज्ञां मध्ये इनत्वं प्रभुत्वं च तिष्ठति। अत्र विहासस्य, संपन्नां, शिवं, स्वामी, सेव्यः, पन्थानः, आप्यः, राजेन, त्वं तिष्ठति इति सर्वेऽपि शब्दा अपशब्दा इवाभासन्ते अतोऽपशब्दाभासोऽयम्। अर्थान्तरप्रतीतौ निर्दोषः।।26।।

न भासते ते सभा न भावितामता विभा।

सता वदे देवतास ते मदेन नदेऽमते।।27।। सर्वतोभद्रः।।

भग्ना वयं भवमये नोद्धृताः पशवस्त्वया।

यास्त्ववस्था रुजां भामामाभाजां रुद्र ता हर।।28।।

परशुबन्धः।। युगलकम्।।

द्वयोष्टीका–हे भगवन् देवतास, देवतानां ब्रह्मविष्णुप्रभृतीनामासनं स्थितिः रक्षणं क्षेपणं विनाशो वा यस्मात् तत्संबोधनम्। ते तव सभा न न भासते। अपि तु सर्वोत्तमा भासते एव। किंविधा। भावितानां नन्दिप्रभृतीनां अममता निरहंकारता तया विभा दीप्तिर्यस्याम्। सता सत्यरूपेण ब्रह्मणा वदे। वदे इति 'संभासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः' इत्यात्मनेपदम्। ते तव वयं मदेनाहंकारेण नदे भवमये अमते अनीप्सिते दुस्तरे तडाके भग्ना ब्रुडिताः सन्तः

पशव इत्यज्ञानपरत्वात् त्वया नोद्धृताः। हे रुद्र रुजां दुःखानां भामः क्रोधः अमा अलक्ष्मीस्तद्भाजां रुजां या अवस्थास्ता हर निवारय। इति युगलकम्। एकः सर्वतोभद्रो द्वितीयः परशुबन्धः।।27।।28।।

कलिकालकलालीककेलिः कलकलाकुले।

कालेऽलिकोकिलाकाले कोऽलं लोले कुले किल।।29।।

द्व्यक्षरः।।

को नामालं समर्थो भवति। अपि तु न कश्चित्। कुले गृहे। शरीर इत्यर्थः कुले शरीरे लोले अस्थिरे सति यतः कलिकाले याः कलास्ताभिर्यदलीकं तदेवकेलिः खेलनं यस्य। तथा कलकलैर्नानाविधोत्कलिकाभिराकुले क्षुभिते। तथा काले मृत्यौ जाग्रतीत्यर्थः। तथा अलयो भ्रमरास्तथा कोकिलाश्च तद्वत्काले तामसे।।29।।

आभातिभाति भवतस्तव कालमार्किं
संचिन्तय स्मरहरोग्रतनुं कृशाङ्गम्।
मां मास्य मुञ्च भव भीममलं कलङ्क
हन्तातिकष्टममराधिप देव तेन।।30।।

पुनरुक्तवदाभासः सर्वपदाश्रयः।।

हे स्मरहर, हे देव, हे अमराधिप, हे भव, एतान्यामन्त्रणानि भतोक्त्या च पुनरुक्तानि तवाभा शोभा अतिभाति अतिशयेन भाति। आर्किं उग्रतनुं रौद्रशरीरं संचिन्तय। कथंभूतमार्किम्, कालमतिमलीमसम्। तथा भवतो जन्महेतोः मां कृशाङ्गमतिभीत्या क्षामतनुं संचिन्तय। अतिदयालुतयेति शेषः। तेन हेतुना हन्ता वधकः तादृशानामुग्रशरीराणामपीत्यर्थः। त्वमस्य कालस्य भीमं भयदायकमतिकष्टं कलङ्क मा मुञ्च। कलङ्कं सर्वथा जहीत्यर्थः। अत्र च आभाति भाति, भवतः तव, कालं आर्किं, संचिन्तय स्मर, हर उग्र, तनुं कृशाङ्गं, मां मा, अस्य मुञ्च, भव भीम, मलं कलङ्कं, हन्त अतिकष्टं, अमराधिप देवतेन, इति सर्वपदाश्रयत्वं पुनरुक्तवदाभासस्य। देवतानामिनो देवतेनस्तदामन्त्रणम्।।30।।

यजने वर धीसाररसामानससारस।

सरसासनमासाररसाधीरवने जय।।39।।

दक्ष दासवरासारनन्द मत्तकृतारव।

वरताकृत्तमदन रस।राव सदाक्षद।।32।। युग्मम्।।

हे भगवन्, त्वं जय। किंभूत। यजने यज्ञे वर उत्कृष्ट। तथा धीसाराणां

योगिनां या रसा भूमिः सैव मानसं तत्र सारस हंस। तथा दक्ष निपुण। तथा दासानां निजभक्तानां वरा एव आसारस्तत्र नद सरोविशेष। तथा मत्तेषु कामाद्युन्मादयुक्तेषु कृत आरावस्त्राणवाग्रूपो येन। तथा वरतया उत्कृष्टतया कृत्तो मदनो येन तादृश। तथा रसो रसयुक्तः। अर्शआदित्वादच्। आरावः संजल्पो यस्य तदामन्त्रणम्। तथा सदा सर्वदा अक्षान्भवपाशरूपान् द्यूतपाशकान् द्यति हन्तीति तादृश सदाक्षद। कस्मिन्। सरसासनमासार रसाधीरवने। सरसमासनं स्थितिर्येषां ते माया लक्ष्म्याः साराः रसायां भूमौ ये धीरास्त्वदेकताना भावुकास्तेषां वनं समूहस्तत्र। युगलकम्।।31।।32।।

तवैव मूर्तिः शिव धर्मराजसुहृत्समानामसुहृत्समाना।

शुभावहा तत्त्वजुषां निरस्तधनादराणां निधनादराणाम्।।33।।

हे भगवन् शिव, तवैव मूर्तिः असुहृत् प्राणहृत् भवति। केषाम् धर्मराजसुहृत्समानां यमसुहृत्सदृशानां तत्प्रियलोकानां तत्किंकराणां वा। कथंभूता समाना सह मानेन पूजया वर्तते या सा। पुनः किंविधा। निरस्तधनादराणां दूरीकृतधनाभिलाषाणां तत्त्वजुषां त्वदेकतानानां जनानां अराणामश्रिसमूहानां भवपाशरूपाणां निधनात्कर्तनाच्छुभावहा शुभदा। युक्तपादाद्यन्तयमकोऽयं श्लोकः।।33।।

भूयाद्भक्तिस्त्वय्युमाक्रान्त तीव्रासारा दक्षामोक्षादरा सा।

नो चेन्नैषा जीयते कालसेना या कालिम्ना नित्यनिम्नालिकाया।।34।।

युक्पादप्रतिलोभः।।

हे भगवन् उमाकान्त, त्वयि सा भक्तिर्मम तीव्रासारा अविच्छिन्ना भूयात्। पुनः किंभूतः। दक्षा निपुणा। पुनः किंभूता। अमोघः सफलो मोक्षे आदरो यस्याम्। नो चेद्भक्तिस्तव स्यात् तर्ह्येषा कालसेना मृत्युचमूर्जन्ममरणादिरूपा न जीयते। केनापीत्यर्थः। एषा कालसेना का। या कालिम्ना मलीमसत्वेन नित्यनिम्नोऽतिनीचोऽलिकायो भ्रगरकायो यस्याः सा। भ्रमरकायादप्यत्यन्तमलिनेत्यर्थः।।34।।

न नानान्नानि नूनं नो न ना नीनानना न नः।

नानु नानेनं नुन्नैना ननु नेनाननेन नौः।।35।। एकाक्षरः।।

दृष्टेन लभ्या भवता नयनानलसाधुना।

मुक्तिरूपा भवाब्ध्यन्ता नयनानलसाधुना।।36।।

पादयमकम्।।युग्मम्।।

नूनं निश्चयं नोऽस्माकं नानान्नानि नानाविधानि अन्नानि न भवन्ति। यतः

नीनाः निर्गत इनः स्वामी येषां ते नीनाः स्वामिरहिताः। अननाः अविद्यमाना अनाः प्राणा येषां ते अननाः। निष्प्राणा एवेत्यर्थः। नानुना इत्यादि। अनेन हेतुना अनु अविद्यमाना नौर्यस्मिन्कर्मणि तत्। अनु न भवति काक्वा भवत्येवेत्यर्थः। ना नरः स्वामी न भवति केषाम्। नः ननु निश्चये। इनाननेन इनस्याननं मुखं यस्य स इनाननो लक्ष्मीवान् नेनाननो दरिद्रस्तेन नेनाननेन दरिद्रेणापि मुक्तिरूपा नौर्लभ्या। कदा। अधुना। केन हेतुना। भवता। कथंभूतेन दृष्टेन। पुनः कथंभूतेन। नयनानलसाधुना नयनानलेन साधुः प्रष्टास्याः(?) तेन। मुक्तिरूपा नौः कथं रूपा। भवाब्ध्यन्ता भवाब्धेरन्तो यस्याः सा। पुनः कथंभूताः। नयनानलसा नयने प्रापणे अर्थाद्भवोत्तारणे अनलसा सज्जा इति। मुक्तिरूपा नौः पुनः कथंभूताः। नुन्नैनाः नुन्नं नोदितमेनः पापं यया (युग्मम्) इति भक्तजनं प्रति। आर्त्योक्तिः। (अधुना इदानीम्) आद्य एकाक्षरः द्वितीयं पादयमकम्। इह शब्दपौनरुक्त्यभ्रान्तिर्भिन्नलिङ्गत्वान्न ग्राह्या। माघकाव्यकिरातार्जुनीयादिकाव्येषु बहुष्वपि पदार्थानां पौनरुक्त्यं दृश्यते तच्च पूर्वाचार्यैः समर्थितम्। यथा—'यमकश्लेषचित्राणां नातिपदक्षोदः कार्यः'इति। अस्य कवेः क्वचित्पौनरुक्त्यादिचमत्कृतेः (?) चित्रकाव्यस्य दुष्करत्वात्। ।35। ।36। ।

सुसुररससभाभा स्वस्वदादावक्र-
क्रममनुनुततत्त्वा त्वाततप्रप्रजाजा।
ननव वधधनानाश्चश्चला लाभभव्य-
व्यस सततममन्दान्दाससङ्गङ्गते ते। ।37। । आवलिः। ।
मयि तनुमुचितां तां दर्शयस्येदृशीं या
रविजजविरणत्रा त्राणरक्तातिभाति।
जय जय जगतस्त्वं तत्त्वतज्ज्ञोऽसि भासि-
न्रसिक सदसदासस्ते भवे भर्ग भव्यः। ।38। ।

एतस्य श्लोकस्य प्रथमार्धेन त्रिशूलबन्धः, द्वितीयार्धेन गदाबन्धः। मालिनीवृत्ताभ्यां युगलकम्। ।

हे भगवन् भर्ग, न (नव) नव्य आदि (भूत) लाभभव्यव्यस्य लाभेन हेतुनोत्कृष्टो व्यसो विशेषेणासनं त्यजनं यस्य हेतोः। पदार्थानामनन्तफलदत्वात्। तथाविध। हे भासिन् भासनशील रसिक भक्तजनप्रिय, ईदृशीं तनुं मयि ते तव दाससङ्गं गते आशु त्वरितं दर्शयस्व। या तव तनुरेवंभूतातिभाति सातिशया शोभते। कथंभूता। सुसुररससभाभ सुष्ठु सुराणां रसा यस्यां तथाविधाया सभायामाभा यस्याः। आदावादावेव स्वस्वदा मरुत्तादिभ्यो भक्तेभ्यः स्वमात्मीयं स्वं धनं ददातीति तथा। अवक्रक्रमं कृत्वा अकौटिल्येन अनु पश्चान्नुतं तत्त्वं यस्याः सा। तु पक्षान्तरे आतता विस्तीर्णा

प्रकृष्टा प्रजा प्रप्रजा सप्तर्षिप्रभृतिसकलनिर्माणं यस्यास्तविधा। स्वयं पुनरजा जन्मरहिता। तथा बधधनानां हिंसाजीवनानामसुरादीनां चञ्चलस्थिरा। सततं सर्वकालममन्दां नित्योद्युक्ताम्। तां तनुमिति संबन्धः। तथा या च ते तनुः रविजस्य यमस्य ये जविनो वेगवन्तः। अर्थाद्भटाः। तैः सह यो रणस्ततस्त्रायते तथाविधा। अत एव सर्वेषां त्राणरक्ता। अत एव त्वं जगतां तत्त्वविषये तज्ज्ञोऽसि विचारनिपुणः। जय जय। सदसतोर्नित्यानित्ययोर्य आस आस्थारूपस्ते तव भवे संसारे भव्य उत्कृष्टः। सतः सत्त्वेन स्थितिर्भवता कल्पिता, असतोऽपि स्वपुष्पादेर्व्यवधानायासत्त्वेन। यदाहुः–'कस्तु भवतत्वान्यत्वेन नातिक्रामति' इति। प्रमेयमनुरूपेण प्रमाणेन प्रमीयते प्रत्यक्षवत्प्रमाणमध्यपतितत्वादसतोऽपि व्यवस्थानादिसिद्धेश्वरनिर्माणवैचित्र्यात्।। अत्र युगलके एक आवलिः। द्वितीयश्लोकस्याद्यार्धेन त्रिशूलबन्धः। द्वितीयार्धेन च गदाबन्धः।।37।।38।।

सुखदोनवमत्वेन सुवर्णाकृतिविग्रहः।

नागराजप्रथात्यक्तो गिरीशो जयतादसौ।।39।।

अर्थत्रयवाचकोऽयम्।।

असौ गिरीशो महादेवः, गिरीणामीशो मेरुः, गिरि वाचि ईशो वृहस्पतिश्चेति त्रय उक्ताः। तत्राद्येऽर्थे–गिरीशो महादेवो जयति। सु शोभनानि खानि ददातीति सुखदः। तथा अनवमत्वेनोत्कृष्टत्वेन सु शोभनानां वर्णानां ब्राह्मणादीनामक्षराणां वा आ समन्तात्कृतिः सृष्टिर्यस्मात्स सुवर्णाकृतिस्तादृशो विग्रहः शरीरसंनिवेशो यस्य। नागराजादीनां प्रथया प्रसिद्धा त्यक्तो विरहितः सर्वाङ्गभूषणत्वात्। तत्सहितः। एकोऽर्थः।। मेरुरपि-सु शोभना खदा गह्वराणि यस्य स सुखदः। नवोत्कृष्टा मा लक्ष्मीर्यस्य तद्भावेनोपलक्षितः। सुवर्णमयी आकृतिर्यस्य। विविधानां वस्तूनां ग्रहो ग्रहणं यस्य च। न अगराजप्रथात्यक्तः पर्वतराज एव। द्वितीयोऽर्थः।। बृहस्पतिः– नवमत्वेन सुखदः 'जीवः सप्तनवद्विपञ्चमगतः' इति। तथा सुवर्णा शोभनवर्णाकृतिर्यस्य तथाविधो विग्रहः संनिवेशो यस्य। भासमानाकृतित्वात्। 'बृहस्पतिर्भ्राजस्व' इति श्रुतिः। विशिष्टो ग्रहो वा विग्रहः। नागराजस्य दन्तिनः प्रथया त्यक्तः। गजवाहनत्वात्। प्रथया अति अक्तो वा सर्वोत्कर्षेण वर्तनात्। इति तृतीयोऽर्थः।।39।।

भवभव्य भवातीत तत्त्वतज्ज्ञ तमोहर।

रणे रक्त रसेनैहि हिताहिसहितार्थद।।40।।

दयादक्ष दहाघानि निन्द्यानि त्वं विरामय।

यमायत्तं यतित्वाव वर वन्द्य वरेण्य माम्।।41।।

द्वाभ्यां गदाबन्धः।।युगलकम्।।

हे भवभव्य सर्वोत्कृष्ट। भवं संसारमतीत निर्मुक्त। तत्त्वेन परमार्थेन तज्ज्ञ सम्यक्परमार्थज्ञ तद्ब्रह्म जानातीति तज्ज्ञ। तमोहर सर्वजनानामज्ञानध्वान्तघ्न। रणे विश्वकण्टकोद्धरणार्थं रक्त हेवाकिन्। भैरवत्वात्। रसेन कृपाविशारद आदरेण एहि। हितसर्वजनेभ्यः, अहिभ्यः शेषादिभ्यः, सहितमरुत्तादिभ्यो भक्तेभ्योऽर्थद। दयायां दक्ष कुशल अघानि पापनि दह शान्तिं नय। निन्द्यानि पापानि विरामय अधःकृतोरग। यमस्यायत्तं मा मरणधर्मित्वान्मर्त्यानां यतित्वा प्रयत्नपूर्वं अव रक्ष। वर वन्द्य वरेण्य इत्यामन्त्रणपदानि।।40।।41।।

न तनुतां दधती ततोदिता तुदति नीतिनिधे निधने तनुम्।

निधिदनाथ ततं ननु नूतनं नुतिधनं तदिदं निददानि ते।।42।।

तवर्गबन्धः।।

हे निधिदनाथ कुबरेस्य स्वामिन्, हे नीतिनिधे, तततोदिता तोदा रोगाः। तततोदिता बहुलरोगिता निधनेऽन्तसमये तनुं देहं तुदति व्यथयति। यतस्तनुतां न दधती। बहुलेत्यर्थः। ततोऽस्माद्धेतोरहं ते तुभ्यं नूतनमिदं नुतिधनं स्तुतिरेव वित्तं निददानि। नीतेर्विश्वस्थितिरूपाया निधे आस्पद। ततं विस्तीर्णम्। ननु संमुखीकरणे। दुतविलम्बिताक्षराभ्यां तवर्गबन्धः।।42।।

सा राजते तनुरलं वरदा परासा-

सारापदारहित सन्महहासदासा।

सादासहाहतभवोत्करकाविलासा

सालाविकारपृथु साक्षततेऽजरासा।।43।।

अष्टदलपद्मबन्धः।।

हे भगवन्, असारायोग्या चासावापत्तया रहित असारापदारहित, तथा सह अक्षतत्याक्षमालया पाणिगया सह वर्तते यः स तदामन्त्रणं साक्षतते, ते तव संबन्धिनी सा तनुः राजते। वरान्ददातीति वरदा। परानस्यतीति परासा। परेषां शत्रूणामासः कोपो वा यस्याः सकाशात्। सन्मह उत्कृष्टोत्सवो हासः प्रमोदो येषां तथाविधा दासाः सेवका यस्याः सा सन्महहासदासा। तथा सादं न सहन्ते इति सादासहा मृदवस्तेषामासमन्ताद्धतो भव एवोच्चैः करकाणां वर्षोपलानां विलासो बाहुल्यं यया सा सादासहाहतभवोत्करकाविलासा। कथम्। सालवदविकारपृथु निर्विकारप्रांशु कृत्वा। तथा अजरासा न विद्यते जराया आसा आस्था यस्याः।। पद्मबन्धो ऽयं वसन्तवृत्तेन।।43।।

वरा सारवरासारपराभवपरा भव।
समुद्वृता समुद्वृत्तातनुस्तव तनुस्तव।।44।।

यमकावली।।

हे भगवन् भव, समुद्वृत्तातनुस्तव सम्यग् उच्चैर्वृत्तानि छन्दांसि अनुष्टुप्प्रभृतीनि येषु तथाविध। अतनवो बहलाः स्तवाः स्तोत्राणि यस्य तादृश, तव संबन्धिनी तनुर्वरोत्कृष्टा। तथा सारा मुख्या ये वरास्तेषामासारो बहलवर्षणं तत्र परोद्युक्ता सारवरासारपरा। तथा अभवं मोक्षं पिपर्ति पोषयति अभवपरा। तथा समन्तादुद्वृत्ता भैरवत्वादुत्कटा।।44।।

साध्या मूर्तिर्गुणैर्या ते भावितत्वमतारसा।
सारताबाधितविभा रविजस्य सदैव सा।।45।।

क्षुरिकाबन्धः।।

सा तव मूर्तिर्यमनियमादिभिर्गुणैः साध्याराध्या। सा का। या भावितत्वेन मता प्रिया भावितत्वमता। तथा अरसा वीतरागा। तथा सारतयोत्कृष्टत्वेन वाधितोपशमिता विभा यया। कस्य। रविजस्य मृत्योः। सदा सर्वदैव।। इति क्षुरिकाबन्धः।।45।।

कुरवे काले साव यमारेऽरस सुकुमार सदानव देव।
अनवदयाचित भव मदनारेऽचल मामुक्तियते मयि हेव।।46।।

संस्कृतकाश्मीरापभ्रंशश्लोकः।।

हे भव, कौ भूमौ रवे सूर्यवत्प्रकाशद कुरवे, मदनस्यारे मदनारे, काले समये हे सावसहावेन रक्षणेन वर्तते यस्तत्संबोधनम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिमिति यावत्। यमस्यारे यमारे! अरस संसारवासनोज्झित। सदा नित्यं नव तरुण। देव दिवु क्रीडाव्यवहारादिधात्वर्थवाचक। अनवदयया कृपया चित व्याप्त। अचल स्थिर। उक्तिषु यते उद्युक्ते उक्तियुक्ते मयि विषये। अत एव मामव। इति पुराणपुरुषसंस्कृतभाषार्थः।। कुरवे काले काश्मीरभाषया सर्वे मारिताः। रससुकुमाराः सदा नवा देवाः। अनवद भाषया निरवधीत्यर्थः। याचितभव प्रार्थितसंसार इति मदनारे इति मदवह्निना मुक्ताः। तादृशा अपि। इति कश्मीरभाषार्थः।। एवं संस्कृतकाश्मीरापभ्रंशभाषाश्लेषः।।46।।

सा रसावर सारम्भ तरसावरसारता।
तारसाररसा भक्तिस्थिर सावरसाभया।।47।।

उल्लसद्विजरानन्द शिव सद्विजराज यत्।
मूर्तिराभाति ते भव्या सा स्थिराभातितेजसः।।48।।

अयं तूणबन्धः।। युग्मम्।।

हे शिव, सद्विजराज चन्द्रभूषण, रसायां भुवि वरो मुख्यः सहारम्भेण वर्तते विश्वकर्मणा वर्तते यस्तदामन्त्रणम्। तया भक्तिस्थिर। तथा उल्लसन् विजरो जरारहितस्तरुण आनन्दो निरतिशयप्रीतिलक्षणो मोक्षपर्यायो यस्य स तथाविध। तव संबन्धिनी सा मूर्तिर्भव्योत्कृष्टा आभाति। अतितेजसः परमानन्दस्याभा स्फुरत्ता। यदाहुः—'देवः स कोऽपि जगतीप्रकाशः' इति, ' तदलं स्वात्मावबोधं पुष्णाति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव सः' इत्यादि, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।' इति रीत्या 'सूर्यनिर्मलपरमेष्ठिभिः' इत्यादिभिः संवादैः सर्वदर्शनेषु परमात्मनः सर्वतेजांस्यतिशय्य सर्वेश्वरत्वं विश्वकर्तृत्वमिति सुसिद्धम्। इह काव्यमात्रप्रस्तावेन किंचिद्ध्वनितम्। अत्र विस्तरभयात्प्रकृतानुपयोगाच्च न वितत्य प्रपञ्चितम्। दीप्तिः तरसा अव रसेष्ववगतरसेषु बालिशप्रायेषु अरतासक्ता। तारे संसारोत्तारणे सारः समर्थो रसो यस्याः सा तथाविधा। वरेषु साभया अभयदायिनी। एवंरूपा तवैवेति।। द्वितीयस्तूणबन्धः।।47।।48।।

चर्चाशिक्षितमन्त्रतत्त्वविभवोदारप्रतीतिर्भृशं
स्मर्ता बन्ध्यभवप्रदोऽसि विदितस्त्वं कृत्तवैरिन्भुवि।
श्वस्तुत्य हिताय ते दिवि नमो धूतार्यजेयध्वने
नेत्राग्नौ च हुतस्मराय विभवे शर्वाय विद्यात्मने।।49।।

कविनामगर्भश्चक्रबन्धः।।

'शिवस्तुतिरियमवतारकृता' इति श्लोकान्निर्गच्छति। चर्चया पुनः पुनः पर्यालोचनया अन्यैः स्वतः शास्त्र इति नीत्या पारम्पर्यक्रमेण यः शिक्षितो मन्त्राणां तत्त्वस्य परमार्थस्य विभवः स्फाररूपो महिमा तेनोदारा प्रतीतिर्यस्य तथाविधोऽसि। विश्वगुरोर्गुरोः कविनामगर्भश्चक्रबन्धः 'शिवस्तुतिरियमवतारकृता' इति श्लोकान्निर्गच्छति 'स त्वं मानविशिष्ट'—इति माघचक्रबन्धवद्बहिस्तृतीयावर्ते 'शिवस्तुतिः'—इत्यादि द्वादशाक्षरी निर्गच्छति। भवान्स्वविमर्शो गुरुः। अतश्चर्चया, न तु शिक्षया। भृशं स्मरति भृशं स्मर्ता। भक्तजनानां बन्ध्यं ज्ञानयुक्तं भवं जन्मभुक्तिमुक्तिसाधकं ददाति यः स तथाविधः। मनुष्यजन्मना हि बुद्धिबलेन सर्वं साध्यते। अत एव भुवि सर्वजनानां विदितः सम्यग्ज्ञातः। हे कृत्तवैरिन्, कृत्ता वैरिणः कामादय आन्तराः,

बाह्याश्चान्धकारसुरादयः। हे विश्वस्तुत्य विश्वस्मिन्सर्वेत्कृष्टत्वात्स्तुत्य तुभ्यं शर्वाय विभवे विश्वात्मने नमः। दिवि देवभूमौ अर्थात् स्थितेभ्यो हिताय। सुराः सत्त्वप्रधानास्तदुपरि भगवतः सकृपत्वमुचितम्। धूता आकम्पिता अरयो येन स धूतारिः। तथा अजेयो दुरवगाह्यो ध्वनिर्नादरूपो यस्य स तथाविधः। तथा नेत्राग्नौ हुतः स्मरो येनैवंविधाय सर्वोत्कर्षवते। विद्या सम्यग्ज्ञानरूपाविद्यातिरस्कारिणी भगवतो रूपम्। 'विद्ययामृतमश्नुते'। सर्वागमेषु च 'महाविद्या ज्ञानयोगः' इति चतुष्टयं विद्या आत्मस्वरूपं यस्य तादृशाय ते नमः'।।49।।

मारासुघ्नाविपक्षादरवरवरदक्षापविघ्ना सुरामा
सामासक्ता रणत्रा रिपुरसुरपुरि त्राणरक्तासमा सा।
शापाकृष्टामृदुस्वा बत सरस तव स्वादुमृष्टा कृपासा
नामा सत्या कृतज्ञा तनुरजरनुतज्ञातकृत्या समाना।।50।।

प्रतिलोमानुलोमपादः।।

हे भगवन्, सरस नित्यानन्दमय, अजर नित्यतरुण, बत आश्चर्ये तव संबन्धिनी तनुः मारस्य कामस्य असून्हन्तीति मारासुघ्ना। अविपक्षा प्रतिपक्षवर्जिता। तथा अदरं निर्भयं कृत्वा स्वातत्र्येण वरेभ्य उत्तमेभ्यो वरे दक्षा कुशला। अपविघ्ना निर्विघ्ना। सु शोभना रामा पार्वती यस्यां सा। साग्निवेदे आसक्ता संनिहिता। रणात्त्रायते इति रणत्रा। असुराणां पुरि नगर्यां रिपुः। अत एव त्राणे सकलरक्षणे रक्तानुरागवती। असमा न विद्यते समस्तुल्यो यस्याः। सा विश्वप्रसिद्धा। शापेनाकृष्टः अमृदूनां क्रूरात्मनां स्व आत्मा यया। स्वादुना मृष्टा सर्वजनरुचिदा स्वादुमृष्टा। कृपया आसः स्थितिर्यस्याः सा कृपासा। अत्र चित्रकाव्ये शसयोरभेदः। न अमा अविद्यमाना मा यस्याः सा, अपि तु सश्रीका। सत्याविनश्वरा। कृतज्ञा भक्तानां सेवयान्तरज्ञा। अजराणां देवानां यन्नुतिः(तं) स्तुतिः तेन ज्ञातं कृत्यं यस्याः। अत एव सह मानेन वर्तते या समाना।। स्रग्धरा वृत्तं प्रतिलोमानुलोमपादतः।।50।।

पिता सुराणां क्षपितासुराणां भवस्यनूनं विभवस्य नूनम्।
खराजितानां मुखराजितानां सदाशिव त्वं तु सदा शिवत्वम्।।51।।

सर्वपादाद्यन्तयमकम्।।

हे सदाशिव, त्वमेव तु सदा सर्वकालं क्षपितासुराणां मारितदैत्यानां सुराणां विष्णुप्रभृतीनां संबन्धिनो विभवस्यैश्वर्यस्य पिता निर्माता भवसि। नूनं निश्चितम्। अनूनं कृत्वा खे आकाशे राजितानाम्। तथा मुखरैर्निन्दापरैर्वाचालैः प्रतिपक्षैरजितानां

त्वमेव शिवत्वं शिवस्य भावः शिवत्वं कल्याणभावः।। सर्वपादाद्यन्तयमकम्।।51।।

अहीनभोगाभ रणादराय सदानयज्ञान्त कविग्रहाय।

सुभूति चेतो हरवीरकाय वरायते सज्ज नमोऽक्षदाय।।52।।

अहीनभोगाभरणादराय सदानयज्ञान्तकविग्रहाय।

सुभूतिचेतोहरवीरकाय वराय ते सज्जनमोक्षदाय।।53।।

महायमकम्।।युग्मम्।।

हे हरवीरकाय, तथा वर उत्कृष्ट, अहीनभोगादिषु राज्यादिषु आभा यस्मात्सो ऽहीनभोगाभस्तदामन्त्रणम्। तथाविध। सर्वत्र भवद्दीप्तेरेव स्फुरणात्। तदुक्तम्–'न सा जीवकला काचित्संतानद्वयवर्तिनी। व्याप्त्री विश्वकला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते।।' इति। तुभ्यं नमः। अक्षाणीन्द्रियाणि दयते पलायते। मनःप्रभृतीनां सर्वेन्द्रियाणां बाह्यपदार्थानां च तदधिष्ठानमन्तरेण ग्राहकत्वग्राह्यत्वासिद्धेः। यदाहुः–'आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन' इति। रणादराय रणाद्दैत्यसंग्रामाददरो निर्भयस्तस्मै रणादराय सदालब्धजयत्वात्। सदानः सदक्षिणः यज्ञान्तः यस्य हेतोः। सर्वयज्ञसंपादनवेलायां रुद्रप्रीत्यर्थमेव दक्षिणादि यजमाना वितरन्ति। तावच्च यज्ञस्य पूर्णता न भवति। 'मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' इति नीत्या यजमानमूर्ते। कं जलं मूर्तिर्विग्रहो यस्य तथाविधाय, अष्टमूर्तित्वात्। शोभना भूतिरैश्वर्यं यत्र तत् सुभूति ऐश्वर्येण भोगः समोक्ष ईश्वरेच्छया प्राप्यते तथाविधं कृत्वा। चः समुच्चये। इतो लोकात्। चेतः, इति पदच्छेदः। आयते मुक्तिमार्गे सज्ज भक्तजननिस्तारेण संनद्ध, ते नमः। अक्षदाय एकोऽर्थः।। अर्थान्तरं यथा–वराय वरार्थं सज्जनानां मोक्षदाय तुभ्यं अहीनामिना नागराजास्तेषां ये भोगाः शरीरसंनिवेशास्तदाभरणे आदरो यस्य। सदा सर्वकालं नयं संसारस्थितिं जानाति यस्तत्संबोधनम्। अन्तकं प्रति विग्रहो विरोधो यस्य सः। तथा सुभूत्या भस्माङ्गरागेण चेतोहरो वीरको नाम गणो यस्य स तथाविधाय।। इति महायमकम्।। युग्मम्।।52।।53।।

साध्यं सुकृतिभिर्यत्नैरमरैर्नुतमञ्जसा।

साहसानां निधिं गम्यं न दुरासदतेजसा।।54।।

साध्यार्चितं स्तुवे येन वरेयं भूषिता रसा।

साधुवृत्तं साररूपं त्रिनेत्रमतिसादरम्।।55।।

द्वाभ्यां खड्गबन्धः।।युगलकम्।।

सुकृतिभिः सत्कर्मभिः साध्यं यत्नैर्ध्यानधारणातपोभिः अमरैर्ब्रह्मादिभिर्नुतं स्तुतमञ्जसा साष्टं साध्यैर्देवविशेषैरर्चितं पूजितम्। येन भगवता इयं रसा भूर्भूषिता। तथा साधु वृत्तं यस्य स तादृशम्। तथा सारं रूपं यस्य तथाविधं त्रिनेत्ररूपं व्यक्तं भक्तजनेषु सादरं साहसानां त्रिपुरदाहादीनां निधिं स्थानम्। दुरासदेन तेजसा हेतुना सर्वैः कैश्चिदेव भक्तैरगम्यमेवंविधं सर्वोत्तममहं स्तुवे।। इति श्लोकाभ्यां खड्गबन्धः।। युगलकम्।।54।।55।।

सारज्ञं च सदाचारतापच्छिदमुमावरम्।
रंहसा नौम्यधिपतारम्यं मुक्तिफलप्रदम्।।56।।

मुसलबन्धः।।

सारं मुक्तितत्त्वं जानातीति तथाविधं सदाचाराणां संमार्यिनां तापं त्रिविधं छिनत्ति यस्तमुमावल्लभत्वादुमावरं सर्वातिशायिनं रंहसा त्वरया अधिपतया सर्वेश्वरत्वेन रम्यमम्। तथा मुक्तिफलं प्रददाति यस्तमहं नौमि।। मुसलबन्धः।।56।।

साधुचक्रनुतं वन्दे रेणुकोद्भवशौर्यदम्।
दंष्ट्रा विपाटिता येन गजस्य विजिता रसा।।57।।

धनुर्बन्धः।।

साधुचक्रैर्नुतं नियमिसंमूहैः स्तुतम्। रेणुकोद्भवो जामदग्न्यस्तस्य शौर्यदम्। शस्त्रास्त्रकर्मशिक्षाप्रतिपादनेन। येन दुर्जयस्य गजासुरस्य दंष्ट्रा विपाटितोन्मूलिता। अत एव रसा भूर्विजिता।। इति धनुर्बन्धः।।57।।

सावर्ता मित्त्रपरमाणवोऽपि कतमे स्थि(स्तिं)सा (?)।
सा भा नैकस्य तेभ्योऽपि देव मत्तनुरञ्जसा।।58।।

शरबन्धोऽयम्।।

संसारे पितृपुत्रभ्रातृसुहृत्प्रभृतयः सावर्ता भ्रमन्तो नवनवाः कतमे तावत् असंख्याः विस्तारणायोग्यत्वादगण्याः, तेभ्यो मध्यान्मत्तनुः एकस्यापि न सा भा सा दीप्तिः। आत्मनो वा तेषां भवत्राणासमर्थेति (?) मित्रस्य वा परमाणवः।।58।।

सामर्थ्यद सुमूर्तिस्ते सदा जीयात्प्रभोऽरसा।
सा रसासार सारस्थिस्थिरासा विदिता भुवि।।59।।

त्रिशूलबन्धः।।

सामर्थ्यं संसारसागरतरणयोग्यं ददाति यस्तथाविध, तव मूर्तिस्ते सर्वकालं

ज़ीयात्। रसासार रसानां मध्ये सार-उत्कृष्ट, अरसा वीतरागा-सारास्थि कृत्वा स्थिर आसः स्थितिर्यस्याः। तथा भुवि विदिता। इति त्रिशूलबन्धः।।59।।

सा विडम्बकतां नीत्वाप्तवती क्रूरतां विभो।

विसारे कुरुते कालसेना दोषं मयि स्थिरा।।60।।

डमरुबन्धः।।

कालसेना मयि विसारे दुर्बले विषये दोषं कुरुते। विडम्बकत्वं कृत्वा तामाप्तवती। डमरुबन्धः।।60।।

सारा बन्धैर्नाज विभो भियार्ता मे मतिः परा।

सा राजते विनैव त्वां भगवन्नेहि रंहसा।।61।।

हलबन्धोऽयम्।।

खड्गबन्धात्प्रभृतिभिः सप्तभिरमीभिर्बन्धैः कविनामगर्भश्चक्रबन्धः 'कृतं चक्रमिदं बन्धैरवतारेण सप्तभिः' इति निर्गच्छति।।

हे अज भगवन्, इयं मे मतिर्नैव विराजते। बन्धैराणवमायीयकार्मणैः (?) पाशैर्यत उपलक्षिता। सारा दुर्लभमनुष्यजन्मप्राप्त्या भव्या सती भिया यमभीत्या आर्ता। परा उत्कृष्टा त्वं रंहसा त्वरितं एहि। मां पाहीत्यर्थः। इति हलबन्धः। 'कृतं चक्रमिदं बन्धैरवतारेण सप्तभिः' इत्यक्षराणि चक्रादुच्चित्य निर्गच्छन्ति।।61।।

सो हेममग्गसग्गो सोहारोहक्खमो विसुद्धो सि।

सिद्धो सुविमोक्खहरो हासोग्गो सग्गममहेसो।।62।।

प्रतिलोमानुलोमगाथा।।

एतस्याः संस्कृतीकरणम्—

'स हेममार्गसर्गः शोभारूपक्षमो विशुद्धोऽसि।

सिद्धः सुविमोक्षहरो हासोग्रः संगममहेशः।।'

य हेममार्गसर्गः मरुत्तं प्रति शोभारूपा क्षमा यस्य। सुविमोक्षः। वरः(?)। यस्य संबन्धी अट्टहास उग्रः। सङ्गमेत्यामन्त्रणम्।।62।।

पथेन साधुना माय कुसुमेषुस्यदक्षते।

परमस्मै सतेजाय भोनमस्तेनमस्तव।।63।।

अपशब्दाभासः।।

भो भर्गवन्, इन स्वामिन्, हे अनमस्तव न अमा अनमाः सश्रीकाः स्तवा यस्य तादृग्विध। अविद्यमाना मा लक्ष्मीर्येषा तेऽमाः। तथा कुसुमेषोः कामस्य यः स्यदो दर्पातिशयस्तस्य क्षते। हानौ अमाय विष्वपक्ष सुकरत्वात् साधुना पथा उपलक्षित, ते तुभ्यं नमः। असौ अनुभवगोचरत्वात्संविद्रूपेण वर्तमानाय। 'पथेन' इति, 'साधुनामाय' इति, 'कुसुमेषुस्य' इति, 'दक्षते' इति, 'परमस्मै' इति 'नमस्ते नमस्तव' इति, एते आमुखे अपशब्दा भासन्ते इति अपशब्दाभासाः।।63।।

किन्ते[1] कार्यं भर्गभयं कामद काली-
च्चिन्तेयं मे मन्युममेयं जनयित्री।
व्यङ्क्ते भालादग्निदलाभा तव दृष्टि-
र्भुङ्क्ते नैनं मन्दमतिं नैपुणतः किम्।।64।।

मत्तमयूरेण नन्दिकावर्तबन्धः।।

हे कामद सर्वाभिलषितदायिन्, इयं मम चिन्ता अमेयं बहुलं मन्युं जनयित्री, जनयिष्यतीत्यर्थः। इयं का। यत्कालादभयं कार्यं छिन्ते तव संबन्धिनी दृष्टिर्भालाल्ललाटात् अग्निदलाभा वह्निखण्डद्युति व्यङ्क्ते प्रकाशयति सा दृष्टिरेनं मन्दमतिं तुच्छहृदयं नैपुणतो दार्ढ्येन किं न भुङ्क्ते। किमिति भस्मसात्र करोतीत्यर्थः। मत्तमयूरेण नन्द्यावर्तबन्धः।।64।।

गिरिभिद्विधिजिद्विद्धि द्विषि छिन्द्धि स्थितिं गिरि।
श्रियि सिद्धिर्धियि विधिर्विच्छित्तिरीति चिद्भियि।।65।।

इकारान्त एकस्वरः।।

हे गिरिभिद्विधिजित् गिरिभिदिन्द्रः विधिर्ब्रह्मा तौ भुजस्तम्भेन शिरश्छेदेन च जितवान्। तत्संबोधनम्। त्वमिति विद्धि जानीहि। किम्। द्विषि वैरिणि या गीस्तस्यां स्थितिं संनिधिं छिन्द्धि विदारय। अत एव नोऽस्माकं श्रियि सिद्धिः, धियि प्रज्ञयां विधिर्विधानम्। चिद्भियि 'चितोऽपरिमितज्ञानाद्या भीतिः संसारभ्रमपात्' तस्यां विच्छित्तिर्विच्छेदः भवतीति सर्वत्र योज्यम्। इकारान्तस्वरोऽयम्।।65।।

शर्व नयः शुभो वितरणे गुणे रतं विभो
तिष्ठति ते श्रियेऽजर परं चिरं मरजये।
तत्कृपया सुचारुरव मा क्षमावररुचा
दर्शय सद्धिते परसुखं सुखं सुरपते।।66।। स्फुरबन्धः।।

---

1. आदर्शपुस्तकयोस्तु 'किन्ते' इत्येव पाठ उपलभ्यते, परन्तु टीकायां 'छिन्ते' इति व्याख्यानस्योपलभ्यमानत्वात् 'छिन्ते' इत्येव पाठः स्यात्।

हे शर्व विभो, गुणे रत, अजर जरारहित, ते तव नयो नीतिराचारः शुभस्तिष्ठति वितरणे दानविषये परमत्यर्थं चिरं श्रिये परं उत्कृष्टो यो जयस्तस्मिन्सति। तस्मात् हे सुरपते, त्वं कृपया सुचारु रमणीयः। मा अव मामव रक्ष, क्षमया सामर्थ्येन वरोत्कृष्टा या रुक्तया सद्भ्यो हिते किं ये यत्परमतिसौख्यं तथाविधं सुखं सुष्ठु खानीन्द्रियाणि यत्र तद्दर्शय।। स्फुरबन्धो होकः।।66।।

कालाक्रान्ता तनुरमरनुत त्रस्तेयं मे विदितहित दिवि
नश्यत्यग्रे तव सरस बत ग्लानिः सेयं वशिदमद शिव।।67।।

प्रतिलोमानुलोमपादार्धः।

हे अमरनुत, हे दिवि विदितहित, सरस लब्धात्मविश्रान्ते, हे वशिनां जितेन्द्रियाणां दमद गर्वसहत्वदायिन्, मम सम्बन्धिनीयं तुनः कालेनाक्रन्ता त्रस्ता। बत आश्चर्ये। तव प्रभोरग्रे नश्यति सेयं ग्लानिः शिव सर्वेषां श्रेयस्कर।। भ्रमरविलसितं वृत्तम्।।67।।

दानासन्ना पवित्रानुतजनितरणत्रा रिपुत्वे न जेया
माराभिख्यासचर्याविरतकृदरमद्यापि दक्षा पराका।
शापाकृत्यायनज्ञावनमननजनिमुक्तारगत्यानपाया
या सा रस्यादत्वा शिवतनुरसदंत्वातिहृत्ताप्ररासा।।68।।
सारापत्ताहतित्वादमरनुतवशित्वादगम्यारसा या
या पानत्यागरक्ता मुनिजनमनवज्ञा नयत्याकृपाशा।
कारापक्षादपि द्यामरदकृतविर्या च सख्याभिरामा
याजेनत्वे पुरि त्राणरतनिजतनुत्राविपन्ना सनादा।।69।।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां स्रग्धराद्वयम्।।		(युग्मम्)

सा शिवतनुः एवंविधा सती मुनिजनं भक्तलोकं कारापक्षात्संसारबन्धादपि द्यां नयति। यतः। दाने आसन्नाभ्यर्णवर्तिनी। तथा पवित्रा। आ समन्तान्नुतं स्तवनं येषां तथाविधैरानतैर्भक्तजनैर्जनितो यो रणो विपक्षैः सह कलहस्ततस्त्रायते आनुतजनितरणत्रा। रिपुत्वे सति असुरादिभिर्न जेया। मारस्य कामस्य यामिख्या रूपलावण्यकान्तिमत्वाच्छोभा तया समानचर्या तद्युक्तेत्यर्थः। विरुद्धं यदतं रमणं संसारासक्तिस्तत्कृन्तति छिनत्तीति विरतकृत्। अरमत्यर्थं अद्यापि अविच्छिन्नप्रवाहेण दक्षा पञ्चकृत्यकुशला। परान् शत्रून् अकति कौटिल्येनोल्लंघयति पराका। शापोऽकृत्यं यस्याः शापाकृत्या कृपया वरदायिनीत्वात्। अयनं मुक्तिगमनं जानातीति अयनज्ञा। अवनमनेन नमस्कारेण जनेर्जन्मनो मुञ्चति अवनमनजनिमुक्। तारगत्या विस्तारकेणो-

पायेन अनपायविनश्वरी। एवंविधा या प्रसिद्धा सा रम्यमगदत्वमारोग्यं यस्याः सा रम्यागदत्वा। तथा अमदत्वं दीनतामतिशयेन हरति यस्तस्य भावोऽमदातिहृत्ता तेजः प्रसादस्तेन परानस्यति क्षिपति परासा अमदातिहृत्तापरासा एवंविधा। सारा बहला या आपदस्तासां भावः सारापत्ता तस्या हृतित्वं हरणभावस्तस्मात्सारापत्ताहृतित्वात्, तथा अमरनुतवशिस्वात्सुरस्तुतजितेन्द्रियत्वादगम्या दुष्प्रापा। अरसा वीतरागा च। या च पाने रक्षणे त्यागे च भक्तजनाय इष्टदाने रक्ता हेवाकिनी। तथा अनवज्ञा न विद्यतेऽवज्ञा भक्तजनं प्रत्यवहेला यस्याः। तथा आ समन्तात् कृपया आशा यस्याः सकाशात्। तथा—अरदः कृतो रविर्यया पूष्णो दन्तदलनादरकृतरविः। या च तनुः सख्या सेवयाभिरामा भक्तानभिरमयति। या कारापक्षादपि अर्थात्संसाररूपात्कारागृहाद् द्यां स्वर्गं नयति। या अजा आद्या शक्तिः। इनत्वे सति प्रभुत्वे सति पुरि भवने त्राणरता पालनोद्युक्ता या निजतनुः क्षित्यादिरष्टविधा तामपि त्रायते परेण रूपेणाधितिष्ठिते। अत एव अविपन्ना कल्पादावप्यनश्वरी। सनादा सशब्दोल्लासा। यतः 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।' इति वचनाच्छब्दात्मकं परं ब्रह्मरूपम्।। युगलकम्।।68।।69।।

सुरद्विषां धामनिवारणाय तुभ्यं समिद्धामनि वारणाय।
नमोऽस्तु भव्याय भवाकुलाय संसाररक्षाप्रभवाकुलाय।।70।।

यमकम्।।

हे भगवन्, तुभ्यं नमोऽस्तु। सुरद्विषां दैत्यानां धामनिवारणाय तेजोग्लापनाय। तथा समिद्धामनि वारणाय समिद्धामनि दन्तिनो(?) क्षोभकत्वात्। भव्याय सर्वोत्कृष्टाय। अकुलाय जन्मरहितत्वात्। संसाररक्षाप्रभवैराकुलाय व्यग्राय।।70।।

रसारसासारसार सारसाररसार सा।
रसा रसासारसारसारसाररसारसा।।71।।
मरुस्थलीत्वं त्वदृते मयीह सति धामनि।
अतो मां यमसेनेर्ष्यामही हसति धामनि।।72।।

अत्राद्यो द्व्यक्षरो द्विस्वरोऽसंयुक्ताक्षरोऽर्धभ्रमः सर्वतोभद्रः समुद्गमकम्, मालायमकम्, आवृत्तयमकम्, गूढचतुर्थः, गूढतृतीयः, गूढत्रिंशदक्षरो वा, गोमूत्रिकादयश्च बहवो बन्धा अत्र श्लोकं पृथक्प्रस्तार्य प्रेक्षणीयाः। द्वितीयः पादयमकः।।

हे भगवन् रसारस रसेभ्यः श्रृङ्गारादिभ्योऽरसो विमुखस्तदामन्त्रणं हे रसारस, तथा असारसार असारात्संसारात्सारः तादृश हे असारसार। अरीणां समूहमारम्, सह आरेण वर्तते यत्तत्सारम्, सारं च तत्सारं बलं तत्र रसो यस्य सः। तद्विधा सा

लोकोत्तरा रसा भूमिः आर जगाम। मरुस्थलीत्वं मयि विषये धामनि स्वे तेजसि सत्यपि इह संसारे। यतः। कीदृशी भूः। रसासारसारसारसाररसारसा। रसस्य जयस्य ये असारास्ते साराणि येषु तानि रसासारसाराणि, तथा सारसानां हंसानामारं गमनं राति ददाति एवंविधानि सारसानि सरःसमूहा यस्यां वारुण्या जलपूर्णा तथाविधापि मां तापयतीति। अतो हेतोर्यमसेना ईर्ष्यामयी मां हसति। धामनि गृहे।।71।।72।।

अक्षय्यं क्षीणसादं नृबुधहतभयं सत्फलं धीरचित्तं
तुङ्गं श्रीसाररक्षोसुरहतिरभसं त्वां सगङ्गं श्रितं वा।
चर्यालक्षेण लोकक्षममलयमहासंक्रमं स्वैरसज्जं
स्थाणो स्वाबद्धसर्वाहवगरिमगुणं के तु नेह स्तुवन्ति।।73।।

अयं श्लोको गाथागर्भः।।

हे स्थाणो, इह संसारे के त्वां न स्तुवन्ति, अपि तु सर्व एव। यतः अक्षय्यं क्षेतुं शक्यः क्षय्यः न क्षय्यः अक्षय्यः, तादृशम्। 'जिक्षेः शक्ये' इति यः। तथा क्षीणः सादः संसारावसादो यस्मात्, तादृशम्। तथा नृणां बुधानां देवानां च हतं भयं येन स तादृशं च। सतां फलं भुक्तिमुक्तिरूपं यस्मात्। धीरं स्थिरं भक्तानुग्रहं प्रति चित्तं यस्य। तुङ्गमत्युन्नतं सर्वोपरिवर्तित्वात्। श्रिया सारा ये रक्षोसुरास्तेषां हतौ रभस आदरो यस्मात्। चर्यालक्षेण बहुलचर्याभिः सर्वदर्शनानां पृथक्प्रस्थापनत्वादाचारभेदैः श्रितं सेवितम्। सगङ्गं गङ्गाधरम्। लोकेषु सप्तसु मध्ये तु क्षमं सर्वसहम्। अलयोऽविनश्वरः महान् संक्रमो यस्य। स्वैरं स्वातन्त्र्येण सज्जं पञ्चकृत्यसंनाहम्। स्वेनात्मना आबद्धाः सर्वाहवेषु दैत्ययुद्धेषु गरिमगुणा येन दुरासदत्वात्। एवंविधम्।। गाथागर्भोऽयम्।। गाथा यथा—'अय्यं णदबुहभमलं रक्तङ्गं सारसुहरसासङ्गम्। तं चलणकमलमसमं रज्जं णो वसहगमण तुह।।' इति। अस्य संस्कृतीकरणम्—'आर्यं नतबुधभ्रमरं रक्ताङ्गं सारशुभरसासङ्गम्। तव चरणकमलसमं राज्यं नो वृषभगमन तव।।' इति। अस्या गाथायाः स्पष्टोऽर्थः।।73।।

सुरासुराजये जयेऽदरादरादमादमा।
सदा सदारतारता विभो विभोगता गता।।74।। आवलिः।।

सुरासुराणामाजये संग्रामाय जये विषये अदरो निर्भय आदरो यथा तथाविध अदरादर हे विभो विभोगता। विशिष्टभोगता इति यावत्। सदा सर्वकालं सदारतायां गार्हस्थे रतासक्ता। अमा अविद्यमाना लक्ष्मीर्यस्याः (निः)श्रीका म(?)......गता।। आवली।।74।।

जय प्रसन्न तत्त्वद स्वतन्त्रसर्गतत्पर ।
जगत्त्रयप्रवर्धन क्षतस्मर प्रहर्षद ॥75॥ इति । अयमेकस्वरः श्लोकः ।

हे हरऽहरं रोराहां होरां रंहोहरारिराहुहरे ।
रोहाहारैरहरहरहिहारेहाहरा हा हा ॥76॥

अयं श्लोको द्व्यक्षरः ॥ आर्यावृत्तम् ॥

हे हर अहि(हार) वासुकिभूषण, त्वं होरां लग्नस्थितिं रोराहां दारिद्र्यावहां हर निवारय रंहोहर रणे वेगहारी योऽरिः शत्रुः स एव राहुस्तस्य त्वमेव हरिः शिरोहरत्वात् । तदामन्त्रणं रंहोहरारिराहुहरे रोहाः कन्दमूलादयस्तेषामाहारैर्भक्षणैरहरहः प्रतिदिनम् । हा कष्टे । ईहां चेष्टां हरति तथाविधां होरां हर । द्व्यक्षरः ॥75॥ ॥76॥

सारतास्थिरवरस्थिता रसाभारसौम्य गणगम्यसौरभा ।
राजते स्तुतिमतिः स्तुतेऽजरा दक्ष मान्य धनधन्य साक्षद ॥77॥
स्वर्गमार्गद निरर्गलातनुः सा मतात्तकृतकृत्ततामसा ।
इन्दुमण्डितशिरः स्थजाह्नवीतीरभाव्यभयभव्य भारती ॥78॥

प्रतिलोमानुलोमपादार्धः ॥ युगलकम् ॥

हे स्वर्गमार्गद, तथा हे इन्दुमण्डित, तच्छिरस्तत्र तिष्ठतीति तादृशी या जाह्नवी तस्यास्तीरभावि यदभयं तेन भव्य उत्कृष्ट । तथा हे दक्ष सर्वत्र कुशल हे मान्य पूज्य, तथा हे धनधन्य धनेन मरुत्तादिभ्यो दत्तेन धन्या मा शोभा यस्य तादृश, तथा हे अक्षद अक्षाणि दिव्येन्द्रियाणि दूरदर्शनश्रवणयोग्यानि ददाति यस्तादृश, तथा हे रसाभारसौम्य रसाभारे भूभारोद्वहने सति...असौ निर्विकार ते तव भारती राजते । कीदृशी । सारतास्थिरवरस्थिता सारतया स्थिराश्च ते वरास्तेषु स्थिता । पुनः कीदृशी । गणगम्यसौरभा गणैर्नन्दिप्रभृतिभिर्गम्यं प्राप्यं सौरभं यशःपरिमलो यस्याः तथा किंभूता । स्तुति(मतिः स्तुतौ मतिर्यस्याः । तथा निरर्गला निर्निरोधा । अजरा नित्यतरुणा । पुनः कथंभूता । मतात्तकृतकृत्ततामसा । मतेन आत्तं च तत् कृतं पुण्यं तेन कृत्तं छिन्नं तामसं यया । पुनः कीदृशी । अतनुरस्वल्पा ॥ रथोद्गता ॥ युग्मम् ॥77॥78॥

समाधिकारा सुरसारसादरा समाधिकारासुरसारसादरा ।
समाधिकारासुरसा रसादरासमाधिकारासुरसारसादरा ॥79॥

सुदर्शनस्येव युधि द्विषां वधे मतिः सुतीक्ष्णा, भवतो जयत्यसौ।
नमामि शंभो शमिमानवाभयं नयं भवानर्थजितं भवाततम्।।80।।

आद्यः पादाभ्यासयमकम्।द्वितीयस्त्रिशूलबन्धः।।

हे शंभो, कीदृश।समाधिकार समाधिं चित्तैकाग्र्यं करोति समाधिकारस्तादृश, भवतो मतिरसौ सुतीक्ष्णा जयति। कथंभूता। समाधिकारा सह मया वर्तते य : स समः सश्रीकोऽधिकारो यस्याः सा। तथा किंभूता। सुरसारसादरा सुरसारेषु विष्णुप्रभृतिषु सादरा सानुग्रहा। पुनः कीदृशी। समाधिकारासुरसारसादरा समाधिकाराः तुल्यबलवीर्याः, तथा अधिकः अरो गमनं बाणादौ येषां तादृशा येऽसुरास्तेषां सारस्य बलस्य सादं सादं राति ददाति तादृशी। तथा किंविधा। (आ)सुरसा नतेषु (समन्तात्) शोभनरसा। पुनः किंविधा। रसादरा रसायां भूमौ अदरा निर्भया। तथा असमाधिकारासुरसारसात् असमा आधयः तथा कारा बन्धनगृहं येषु ते तादृशा ये अरावस्तेषु यो रसो हेवाकस्तत्र आर अरीणां समूहः आरं सर्वसारसंपत्त्र आरसात् द्विषां वधेन तेषामेव अरा धारा सुदर्शनस्येव। सा च अरिभटानां वधे सुतीक्ष्णा सर्वास आरात्परिसमूहा इव अहं तव नयं नमामि। त्वं किं शमिमानवा भयशमिनो मानवास्तेषां अभयमभयप्रदत्वात्। आयुधं तमिति न्यायेन यतो भवानिर्जितः। नयं कथंभूतम् भवानर्थजितं संसारानर्थभेदिनम्। आततं विस्तीर्णम्।।79।।80।।

कृतानवतनुप्राज्ञ स्वाभासुरसमाधिकृत्।
स्थिताज्ञाहिसितत्वाप्य दमासक्ताव मा व्यरि।।81।।
सुरमात्व स्थितिसम संतताद्वयस्वन।
रसंसारमना माक्षामतिसारतमोद्यम।।82।।

द्वाभ्यामष्टदलपद्मबन्धः।। (कुलकम्)

हे कृतानवतनुप्राज्ञ कृता अनवा आद्यास्तनवः पृथ्व्यादयो येन तथाविधश्चासौ प्राज्ञश्च तादृश। तथा हे स्वाभ शोभनदीप्ते। तथा असुरसमाधिकृत्। असुराणां समाधिं कृन्तति छिनत्ति तद्विघ्नकारित्वात्। तथा हे स्थिताज्ञाहिसितत्व स्थिता आज्ञाश्चाहयश्च सितत्वं च यस्य तद्विध। आप्य भक्तजनैः प्राप्य। तथा हे दमासक्त दमे आसक्त, मा मामित्यर्थः, त्वमव रक्ष। कथम्। व्यरि विगता अरयो यत्र तथाविधं कृत्वा। तथा हे सुरमात्वस्थितिसम शोभनं यद्रमात्वमैश्वर्यं तत्र या स्थितिस्तस्यां सम अनुद्रिक्त। तथा हे संतत अविनश्वर तथा हे अद्वयस्वन् अद्वयः स्वन आज्ञारूपः शब्दो यस्य स तादृश। तथा हे माक्षामतिसारतमोद्यम मया लक्ष्म्या तथा अक्षैरिन्द्रियैरा समन्तात् मतिसारतम उद्यमः कर्तव्यता यस्य तादृश। त्वं कथंभूतः सन्। रससारमना आदौ सुरचित्तः सन्।। युगलकम्।।81।।82।।

वरतास्थिरसामन्त सारतातिसमाहित।

सुकृताक्तासन स्वाज्ञादमाससुमतावसि।।83।।

त्वमद्य भव्य साज्ञत्वानुकृताप्राप्य सद्वर।

नाम सुस्थिर मोक्षाय [1]ममाधिरिति सा तथा।।84।।

एतदुक्तचतुरङ्गाश्वपादपूरणश्लोकयुगलकम्।।

हे शंभो, वरतया प्राधान्येन स्थिराः सामन्ताः सेवका यस्य स तादृश वरतास्थिरसामन्त। तथा हे सारतातिसमाहित सारतयोत्कृष्टत्वेन अतिसमाहित। तथा हे सुकृताक्तासन सुकृतेन धर्मेणाक्तं सेवितमासनं यस्य तद्विध। तथा हे स्वाज्ञादमाससुमत शोभनाश्च ते आज्ञादमाश्च तेषां य आसस्तेन शोभना मता यस्य तादृश। अद्य। मामित्यर्थात्। त्वमवसि रक्षसि। तथा हे (सा)ज्ञत्वानुकृतप्राप्य (सा)ज्ञत्वस्य यदनुद्धतमनुकरणम्। नपुंसके भावे क्तः। तेन प्राप्य। सतां वर। नाम संभावनायाम्। इत्यतो हेतो मोक्षाय मम। तथा य आधिर्मनोरुक्। नय त्वमवसीति स्पष्टीकृतं पुनः।।83।।84।।

कृतानतज्ञसुरमाहितत्वाप्यवताद्वय।

रसारक्षा[2]सारतम कृतज्ञ सुर माप्यव।।85।।

अष्टापदान्निर्गतसमञ्जसबोधो गूढचतुर्थः

कृतमानतं जानन्ति ये तादृशाः कृतानतज्ञा देवा योगिनस्तेषां या सुरमा शोभना चासौ रमा लक्ष्मीस्तस्यै हितत्वं यस्य तथाविध हे कृतानतज्ञसुरमाहितत्व, तथा हे आप्य भक्तिगम्य। तथा हे अद्वय। तथा हे रसायां रक्षतया सारतम कृतज्ञ हे सुर देव म अपि मामपि त्वमव।।85।।

सुप्रज्ञानतसारज्ञ सकृतान्ततनुव्यय।

रक्षावतारमद्य त्वमतिभासुर सुस्थिर।।86।।

अष्टापदनिर्गतः कविनाम्ना कुसुमोच्चयबन्धः।।

हे सुप्रज्ञ शोभनश्चासै प्रज्ञस्तथाविध, तथा आनतसारज्ञ आनतानां भक्तानां सारमुत्कर्षं जानाति यस्तद्विध, तथा हे सह कृतान्ततनुव्ययेन वर्तते तद्विध, अवतारं रक्षेति कविराशास्ते आत्मनि। हे अतिभासुर दीप्तिमन्। हे सुस्थिर अविनश्वर। अष्टापदान्निर्गतकविनाम्ना कुसुमोच्चयबन्धः।।86।।

---

1. 'समाधि' क-ख।
2. 'सारकृत' क-ख।

वेद वेदविदां वादविद्देवो दिवि दावदः।

वादो वादेवदेवादिविद्यो वादिवदे विदम्।।87।। एकान्तरितद्व्यक्षरः।।

हे देवदेव, अहं वदे व्यक्तं वदामि। देवः देवादिवस्तुभावि वेद जानातीत्यर्थः। वेदविदां मध्ये वादवित् दिवि दावमुपतापं दैत्यकृतं द्यति खण्डयति यः स दावदः। आदिवित् सर्वज्ञत्वात्। देवीविदं अहं न झटित्यविदम्।।87।।

कथाभोगजडो मूढवया आरोषणामुखः।

आद्या फलायदिशतो नाहं झटिति चाबुधः।।88।।

अपुनरुक्तव्यञ्जनः।।

अहं कथाभोगजडः, मूढं व्यर्थं वयो यस्य, आ समन्तात् रोषणतया आमुखः, अचैरफलायासापदिशतः। अबुधश्च।।88।।

स्थिर सुरवरसुप्रसाद क्षमोपेत हा मोघमोहातपे मोक्षद त्वामजं

दिवि भुवि च विभुं कृपादे (वे) शहीनाविमौ कालकामौ विनाहीशदेहाङ्गदम्।

जितरणगुणरत्न तौ रौरवीयाधिदौ मा किमादौ धिया वीररौद्रौ यतः

किमु भव भवभङ्गदोषागते पाशवे साधुसावेशपाते गदा घ्नन्त्यलम्।।89।।

चण्डव्यष्टिप्रपातदण्डकेन नन्दिकावर्तबन्धः।।

स्थिर अविनश्वर, सुरवरेषु ब्रह्मविष्णुप्रभृतिषु शोभनः प्रसादो यस्य तथाविध, क्षमोपेत क्षान्तियुक्त, हा कष्टम्। मोघे निष्फले मोहातपे अज्ञानतापे मोक्षद, त्वामजं हि दिवि भुवि च द्यावापृथिव्योः स्वामिनम्, अहीशानां नागराजानां देहा अङ्गदा यस्य तथाविधम्, विना इमौ तौ कालकामौ विना रौरवीयाधिदौ रौरवीया आधिः पीडा तत्प्रदौ, धिया प्रज्ञया वीररौद्रौ किं मा मादोद्यता (?) खण्डयतः। किमु तव जितरणगुणरत्न हे भव भवभङ्गदोषागते पाशवे पशोरयं पाशवस्तस्मिन्पाशवे, तथा साधुसावेशपाते सति गदा रोगा जरादयो घ्नन्त्यलं तत्सर्वं देवदेव देवो देवी वा इति। चण्डव्यष्टिप्रपातदण्डकेन नन्दिकावर्तबन्धः।।89।।

तुभ्यं जगत्त्रयत्राणससंपज्जयते नमः।

शिव संयत्सभाशील जय सज्जनवत्सल।।90।।

'जय सज्जनवत्सल' इति चतुर्थः पादः समञ्जसेन प्रतिलोमेनैव पाठेन निर्गच्छति भ्रान्तिसमञ्जसबोधो गूढचतुर्थः।।

हे शिव, जगत्त्रयत्राणे सह संपद्भिरष्टभिर्ऋद्धिमयीभिर्वर्तते। यस्तत्संबोधनम्।

जगत्त्रयत्राणससंपद् तुभ्यं जयते सर्वोत्कृष्टाय नमः।। संयत्सभाशील संग्रामपर्षत्परायण सत्पुरुषवत्सल त्वं जय।। तुभ्यमित्यस्मात् 'जय सज्जनवत्सल' इति चतुर्थः पादः समञ्जसप्रतिलोमेनैव पाठेन निर्गच्छति। समञ्जसबोधो गूढचतुर्थः।।90।।

सुधीसारज्ञताभव्यजय मासामगक्षम।

सुसाज्ञ भज मामक्षधीरताव्यय सागम।।91।।

प्रथमाधदिकान्तरितान्यक्षराण्युच्चित्य तृतीयपादः, शिष्टाक्षरैस्तथैव चतुर्थपादः।।

सुधिया शोभनप्रज्ञया या सारज्ञता तया हेतुभूतया भव्य उत्कृष्टो जयो यस्य तद्विध। मा शोभा तया सामगा सान्त्वगा क्षमा यस्य तद्विध, सर्वं सहेत्यर्थः। सुसाज्ञशोभनश्चासौ साज्ञश्च तदामन्त्रणम्। अक्षैर्या धीरता तया अव्यय। सागम सर्वागमसम। (मां भज।) प्रथमार्धादिकान्तरितान्यक्षराण्युच्चित्य तृतीयपादः, शिष्टाक्षरैस्तथैव चतुर्थपादः।।91।।

नूनं नमन्मेनमनिम्नमेनमुमामनोमाननमुन्नमौनम्।

मानं मिमानं मुनिमानिनीनामनूननामानमिनं नमामि।।92।।

द्व्यक्षरः।।

अहमेनमिनं स्वामिनं अनूननामानं नमामि। अनन्ताभिधानम्। 'असंख्यातः सहस्राणि' इति वेदश्रुतेः। तथान्यत्रागमेऽपि–'नवकोट्यस्तु चामुण्डा तावद्रूपाणि शंकरः। कृतवांस्तांश्च भजते पतिरूपेण भैरवः।।' इति नीत्या भगवतोऽनूनानि (नामानि)। नूनं निश्चितम्। (नमन् प्रणमन्) माया इमो मेनः लक्ष्मीपतिर्यस्य तथां अनिम्नमत्युन्नतम्। तथा उमाया मनोमाननार्थं चेतोरञ्जनाय नुन्नं निवारितं मौनं येन तम्। मुनिमानिनीनां मानं भर्तृविषय (कं) संयमं मिमानं हिंसन्तम्। देवदारुवनप्रवेशात्।।92।।

हृदि लसमान समा नो ह्रियते (ते) शाश्वती समान समानः।

कान्न समानसमानः करोष्यतस्त्यान्धकास मानसमा नः।।93।।

पादान्तयमकम्।।

सर्वेषां हृदि लसमान, 'तथा स्थानं हृत्पङ्कजसमुद्गकम्' इति नीत्या। हे अन्धकास, अन्धकदैत्यमस्यति यस्तत्संबोधनम्। कैश्चिदपि ते तव संबन्धिनी समान पूज्य शाश्वती समा अनन्तकालं न(नो) ह्रियते नापलप्यते। समः आनः आननं जीवनं (यस्य) तथाविधः। कान् न समान् सश्रीकान् करोषि। यतः (अ)समानः अतुल्यः। (नः) अस्माकं मानसमा मानसस्य चेतसः मा शोभा मानसमा चेतःशोभा अतस्त्या अत आ गता।। सर्वपादान्तयमकम्।।93।।

चित्ते सद्धासमत्ते[1] समिदपरमहोऽजो गदासंकरोसा-
वाहेमासारवाही कदवरसमहामोहसत्तापहारी।
पातादोजोगसत्तोऽविरलसुरणदोऽसच्चलासोऽकलङ्को-
ऽकाले कामेऽन्तको वोऽवितरततरसासज्जसंपत्तिदो वा।।94।।

अयं श्लोकः संस्कृतप्राकृताभ्यां भाषाश्लेषः।।

असौ अकाले असमये। असंग्रामे इत्यर्थः। कामे विषये अन्तको वो युष्माकं पात..द्रक्षतु। अवितरः, विगतः तरः तरणं यस्मात् स वितरः, न वितरः, ततः अवितरततः। अथ च रसायां भूमौ सज्जा चासौ संपत्तिश्च, तां ददाति रसासज्जसंपत्तिदः। तथा ओजोगसत्तः। ओजोगानां तेजोगामिनां सत्ता अस्तित्वं यस्य। परप्रकाशरूपत्वात्। तथा अविरलसुरणदः। अविरलं कृत्वा सुष्ठु शोभनान् सुखदायिनो रणान्ददाति। तथा असच्चलासः। असत्सु वेद्यादिषु चला अस्थिरा आसा आस्था यस्य। अत एव अकलङ्कः। चित्ते चेतसि सद्धासमत्ते सति सन् हासो विकासः तेन मत्ते सति। समिदपरमहः। समित्सु संग्रामेषु अपरः मह उत्सवः। भगवतः स्मरणाद्रणे सर्वेषां सकृल्लब्धजयत्वात्। अजः जन्मरहितः। तथा गदासंकरः। न विद्यते गदैः सह संकरो यस्य। तथा आ समन्तात् हेम्नः सुवर्णस्य वर्षणं वहति। आहेमासारवाही। कदवरसमहामोहसत्तापहारी। कत् कुत्सितः अवरसो महामोहः तस्य सत्तां स्थितिमपहरतीति।।

संस्कृतभाषाश्लेष :—

(चित्रे श्रद्धासमाप्तौ शमितपरमखो यो गताशङ्करोषा-
द्बाधे मासारवाहिः कृतवरसुमहामोघसत्ताप्रथारिः।
पाताद्यो योगसक्तो विरलसुरनतः सत्यलास्यः कलाङ्कः
काले कामेऽन्तको वा वितरतु तरसा सदृशं प्राप्तिदो वा।।)

चित्रे आश्चर्यवति श्रद्धासमाप्तौ आदरनिवृत्तौ। शमितपरमखः (शमितः परमखो) दक्षाध्वरो येन। तथा गताशङ्करोषात्। वह्निबाधे सति मासारवाहिः, मया शोभया उपलक्षिताः सारवा अहयः वासुक्यादयो अस्य। तथा कृतवरसुमहामोघसत्ताप्रथारिः। कृतवरः सुमहा आत्मोत्सवात् मोघसत्ता या प्रथा तस्या अरिः। पातादो(द्)पनताद्धेतोः विरलैः कतिपयैः सुरैः ब्रह्मादिभिर्नतः सम्यक्प्रार्थनया नमस्कृतः। यदाहुः—'पूजका बहवः सन्ति भक्ताः सन्ति सहस्रशः। प्रसादपात्रमाश्वस्ता द्वित्रा एव न पञ्चषाः।।'

---

1. 'समूर्ते' क; 'ससत्ते' ख।

इति नीत्या। योगसक्तः। सत्यलास्यः। सत्यं लास्यं नटनं यस्य स सत्यलास्यः। कल्पान्तादौ नृत्यति। तथा कलाङ्क। कला चान्द्री अङ्को यस्य सः। काले कामेन्तको वा। काले क्रमेण कोपः। वितरतु। तरसा वेगेन। [1]सज्जसदृशं प्राप्तिदो वा। इति प्राकृतभाषाश्लेषेण संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां श्लेषोऽयम्।।94।।

[2]कमलभ्यमलीकविधौ कमलं वय आननशोकमलं कमलम्।

कुरुषे न विशङ्कमलं कमलं सवितेव लसत्कमलं कमलम्।।95।।

सर्वपादान्तयमकं तोटकवृत्तेन।।

त्वं कं जलं गाङ्गमलभ्यं दुस्तरं अलीकविधौ मुकुटचन्द्रे, न तु नैर्मल्यात्। कं ब्रह्माणं आननशोकमलं वयः सुखभागा (?) तथा कं न (कमलं) जलं कुरुषे। अपि तु सर्वं सुखयसि। अलं विशङ्कं कृत्वा। कमिव। सविता रविः कमलमिव। कथंभूतम्। लसन्ती कमला लक्ष्मीर्यत्र तथाविधम्।।95।।

भीमारारा रामा मारा मारारारा मारारामा।

(रामारारारारामा) मारारारामामा मा मारा।।96।।

मारारातेराघाते सातेऽद्यासातेसा मा सेना।

नादे नासादेनामानानादे सानाशादेशा ते।।97।।

आद्यः श्लोकस्तुरगपदस्त्र्यक्षरः। द्वितीयो गजपदबन्धः। गजपदबन्धस्यासंयुक्तद्विस्वरत्वम्।।

हे भीम भगवन्, रामा नायिका। अरा कुटिला आरा गतिर्यस्याः तथाविधा सती मारा मारणं मारस्तत्सहितेत्यर्थः। मारणपरैव यतः। तथा मारस्य आराश्चक्रधाराः ता राति तादृशी मारारारा इत्यर्थः। मारारामा मारस्यारामा विश्रान्तिस्थानं रामा भवति धनेनेति यतः आरामा। भीम कीदृश। रामारार। रामस्य जामदग्न्यस्य आरं शत्रुसमूहः तस्य आरः भौमः। नाशकत्वात् तत्संबोधनम्। मा लक्ष्मीस्तां रातीति तादृशी (मारा) इत्यर्थः।। हे अनादे, तव संबन्धिनी सा भा दीप्तिः भासुरता मे मम मारा। अरातेवैरिण आघाते गते सति। अनाश(:) अविनाश(:) आदेश आज्ञा यस्याः सा। तथा सेना नादे सति सासास्था अद्यासा अद्यति(?) अस्यति निवारयति सह(?) आशया आदेशः तस्य आशा दिक्। तवादेशेन मुक्तिरित्याशयनस्थानम्।। विद्युन्मालाभ्यां युगलकम्।।96।।97।।

1. '(सज्जसं) सदृशं' इति पाठो भवेत्।
2. इतः प्राक् 'विभो प्रसन्नास्य नितान्तदीप्तयोऽजां प्रपश्यस्यतुलप्रताप। धिया दरिद्रस्य कृतावसाद दयार्द्र विश्वाधिपते प्रसीद।।' इति श्लोको दृश्यते; स चाचमत्कारतया क्षेपक इति प्रतिभाति।

स्फूर्जन्महाः प्रसन्नास्ते क्षणादेव त्वयि स्तुते।

स सन्महानमुत्रस्ते यस्त्वां देव नमोऽस्तु ते।।98।।

काञ्चबन्धः।।

स्पष्टोऽर्थः।।98।।

[1]**निजजानिं नुन्नानाजी नूनं नानाजनानजान्नानि (?)।**

निजानेनजानिनानुजजानूनानिजजनैः (?)।।99।।

द्व्यक्षरः।।

हे इन स्वामिन्, ननु ऊनान् जनेर्जन्मनः हेतोः एतान्। कान् निजजनिं स्वां भार्यां, तथा नुन्नानीन् (?) नाना जनान् सुभटान् अजाश्चन्द्रागा (?) अन्नानि च अननं जीवनम्। अजिनानि राङ्कवादीनि प्रावरणानि। अनुजाः स्वपरादयः निजा मित्रादयः। (नूनं) निश्चतम्। ननु प्रश्ने एतानि जनेः पुनः पुनः संसारभ्रमणात्। ऊनानुजनेनिः सरतीत्यर्थः (?) त्वत्पादसेवां विनेति प्रतीतिः।।99।।

केन क्रौञ्चो विभिन्नः कमवनतगताः के दिनेशस्य तीक्ष्णा

अन्तस्थाद्यक्षरं किं द्विजकुलमधिकां वक्ति कां जातिमग्र्याम्।

भृत्यानां कुत्र भक्तिः किमुचितमजयन्क्ष्मां नरेन्द्राः किमर्थं

कस्मै भक्ता अजस्त्रं प्रविदधति नमः स्वामिने शंकराय।।100।।

प्रहेलिकान्तर्लापिकाख्येनेति स्वामिने शंकरायेति पदच्छेदेनोत्तरम्।।

यथा–केन क्रौञ्चः शैलो विभिन्नः। अत्रोत्तरम्–स्वामिना इति कुमारेण। कं अवनतगताः। कं नत्वा गताः। लोकाः इति शेषः। अत्रोत्तरम्–ईशं महादेवम्। के दिनेशस्य रवेस्तीक्ष्णाः। अत्रोत्तरम्–कराः रश्मयः। अन्तस्थानाभाद्यक्षरं किम् किम्। अत्रोत्तरम्–य इति। द्विजकुलं ब्राह्मणवर्गः अधिकां श्रेष्ठामग्र्यां कां जातिं वक्ति। अत्रोत्तरम्–स्वाम्। भृत्यानां कुत्र भक्तिः। अत्रोत्तरम्–इने स्वामिनि। किमुचितं युक्तम्। अत्रोत्तरम्–शं कल्याणम्। राजानः क्ष्मां भूमिं किमर्थमजयन्। अत्रोत्तरम्–कराय प्रजाभ्यो ग्राह्यबल्यर्थम्। भक्ताः कस्मै नमः अजस्त्रं प्रविदधति। अत्रोत्तरम्–शंकराय महादेवाय। इति स्पष्टः प्रहेलिकार्थः।।100।।

रिपुरोपारोपपर प्रोरूपापपरैररम्।

रोरैरपाररूपैरापपे पुररिपो पुरा।।101।। द्व्यक्षरः।।

---

1. 'निजजानिं ननु निजान्नूनं नानाजनानि न।
जानेननाजिनान्नानि नुन्नेनो जननीजनेः।।' इति स्यात्।

हे पुररिपो। कथंभूत। रिपुरोपारोपपर शत्रुकुन्तारोपणे उद्युक्त। पुरा पूर्वं प्राग्जन्मनः प्रभृति अपाररूपैः अनन्तैः दौर्गत्यक्लेशैः प्रोरूपापपरैः प्रकर्षेण उरूणि यानि पापानि तान्येव परं परमार्थो यत्र तथाविधैः पापैः प्राक्कर्मवैचित्र्यादेव जन्मादिदौर्गत्योपलब्धेः। अरमत्यर्थम्।।101।।

अपरुषो गतनिर्विभवासवः स्वयमिनः श्रितसत्यकलादयः।

क्षततमा असुहृत्कलितापदस्त्वमपि नाथ वयं (च) तवार्थिनः।।102।।

हे नाथ, त्वं अपरुषः, न परुषः अपरुषः। पारुष्यरहितः। वयं च संसारं प्रति अपगतरुषः। तेनैव बाधितत्वात्। त्वं गतनिर्विभवासवः, गतो निर्विभः निष्कान्तिः वासव इन्द्रो यस्मात्। त्वत्सकाशाद्वासव.....स्तम्भनान्निष्प्रतिभत्वं गतः। इन्द्र इत्यर्थः। वयं च गतनिर्विभवासवः, गता अस्मभ्यं पशुभ्य इव इति शेषः। निर्विभवाः असवः प्राणाः येषां ते। तथा त्वं स्वयमिनः सर्वेश्वरः। वयं च स्वयमिनः। त्वं श्रितसत्यकलादयः, सत्यकला च दया च (श्रि) ते सत्यकलादये येन सः। वयं च श्रिताः सत्यकलादयः क्वचिद्व्यवहारार्थं सत्यं क्वचिच्च कलादयो यैः तादृशाः। तथा त्वं क्षततमाः, क्षतं तमो येन सः। वयं च क्षततमाः, अतिशयेन क्षताः। त्वं असुहृतां यमभटानां युद्धरूपेण कलितापदं ददाति सः। वयं च असुहृद्भिरमित्रैः कलिता आपदो येषां तादृशाः वयं च तवर्थिनः याञ्चापराः सेवकाः पालनीयाः इति प्रार्थयमाना विज्ञप्तिः। इत्येकवचनबहुवचनश्लोकः। उक्तं चालंकारिकैः श्लेषक्षणे–'वर्णपदलिङ्गभाषा-प्रकृतिविभक्तिवचनानामष्टविधः श्लेष'।।102।।

भाविदासहिते साररसा ते हि रमामय।

यममारतनुत्यागगत्या नुत सदा विभा।।103।।

हे रमामय लक्ष्मीमय तव संबन्धिनी विभा सातिशया दीप्तिः भाविदासेभ्यः भाविभ्यो हिते सारः उत्कृष्टो रसो (यस्याः सा) यममारयोः तनुत्यागेन या गतिर्विच्छित्तिस्तया हेतुभूतया। सर्वैर्नुत स्तुत।। भद्रकावर्तबन्धः।।103।।

सादासन्ना रिपूणां परमुखसुरपक्षोतितस्वस्थिरासा

सारास्थिस्वच्छभावा विभवनवभवित्राणभव्योत्तमासा।

सामात्तव्योमरूपा तनुरमरनुतत्वात्पुरस्ताद्विलासा

सालाद्विस्तारलाभातियजन जयति स्वः प्रसन्ना सदासा।।104।।

भद्रकावर्तबन्धः अष्टदलपद्मबन्धः, षोडशदलश्च।।

हे अतियजन, तव तनुर्जयति। अतिशयितानि सर्वात्कृष्टानि यजनानि यस्य

तादृश। सर्वयज्ञेषु रुद्रस्य मुख्यत्वात्। कीदृशी। रिपूणां सादे विनाशे आसन्ना सादासन्ना। पुनः कीदृशी। परमुखे सुरपक्षे च तत्स्वन्तेन(?) स्थिरासा। सारः अस्ति(स्थि) स्वच्छभावो यस्याः तथा विभवेन ऐश्वर्येण नवभविनां नूतनसंसारिणां त्राणे रक्षणे भव्या उत्कृष्टा अपरुषा। सामात्ता (?) आत्तं व्योमरूषं यया। अमरनुतत्वात्। सर्वदेवस्तुतत्वात्। पुरस्तान्निहिता विलासा यस्याः। तथा सालाद् देवदारोरपि विस्तृता, सालप्रांशुः। स्वः देवानां प्रसन्ना। सह दासैर्वर्तते या सदासा।।104।।

भव जलवायुनभोजनरुचिकर-
म(मृ)दनलराजरमा(सा)मयदेह।
अव मामतिमोहकमारसहर
हर नम इह ते पुरभयदेह।।105।।

हे भव, जलवायुनभोजनरुचिकर, म(मृ)दनलराज र(सा)मयदेह। जलधि(लादि) रसान्तानां चार्थे द्वन्द्वः। तेषामष्टानां मूर्तिरूपा या प्रकृतिस्तन्मयदेह। जनशब्दो यजमानवाचकः। तद्रूपशरीर। त्वं मामव रक्ष। यतः कीदृश। अतिमोहकोऽयं मारसो लक्ष्म्यभिलाषः तन्निवारकं हे हर, इह सर्वत्र भुवनान्तरे ते तुभ्यं नमः। तथा कथंभूत। पुरभयदेह, पुराणां भयं ददाति। तथा ईहा यस्य तत्संबोधनम्। इति संस्कृत-कश्मीरापभ्रंशाभ्यां श्लेषः।।105।।

[1]विविधधररसासाभ भव्य व्यसासा-
धुधुततनन सासादद ज्ञज्ञ सासा।।
ततसुसुर रसासारर स्वस्व सासा-
ववननररसासावव न्यन्यसासा।।106।।

जयसि जलमनन्तं नन्दनं चाम्बुधेर्वा
नवमनमव धृत्वा देवदेवेशभृत्यः।
जयसि जनमनन्तं नन्दयंश्चाविधेये
अनवन नत कस्ते देवदेवेश भृत्यः।।107।।

आवली। युग्मम्। एकेन एकावली द्वितीयेन च्छत्रबन्धः।।

विविधधररसायां सर्वमयबहुरूपपर्वतभूमौ साभ सदीप्ते। भव्य उत्कृष्ट। व्यस विशेषेण असो गमनं यस्य। असाधूनां धुतं धूतं तननं येन तथाविध। असादं समुद्धरणं ददाति तथाविध। ज्ञा देवास्तेषां मध्ये त्वमेव ज्ञः। देवदेव इति। सासा

1. मालिनीवृत्तगन्धि वृत्तान्तरमेतत्।

सहआसेन आस्थया वर्तते सासा सास्था। एवंविधा तनुर्जयति। ततसुसुराः। (तताः) शोभन देवा येन हेतुना तद्विध। रसायां भूमौ सारं सुवर्णर्षणं राति। सासौ सप्राणे। स्वस्व आत्मधन। अवनेन रक्षणेन नरेषु विषये रसो यस्याः। असौ। इयमेवेत्यर्थः। अवनौ भूमौ अन्येषु दैत्येषु विषयेषु विरुद्धेषु सासासासा सास्था।। हे अनवम उत्कृष्ट, देवानां मध्ये देव, स त्वं जयसि। गङ्गाजलमनन्तं यथा अम्बुधेः समुद्रस्य नवं नन्दनं चन्द्रं धृत्वा धारयित्वा अनन्तं जनं च नन्दयन्। अविधेये दैत्यस्वार्थे अनवन अरक्षण, नत। सर्वे त्वां नताः। त्वं न कंचित्। इह हि तेनैव देवदेवेश भृत्यः।। छत्रबन्धो गोमूत्रिकाबन्धश्च।।106।।107।।

यमादजावद्भयमादिदेव वदेयमे यद्भवितार्थिनोऽज।

जनोऽर्थिताविद्भविता ततो हि हितोऽव तावद्भवजादमाय।।108।।

यमागताकृत्यमवेहि येन नयेन वै सत्यसदासमेत।

तमे सदासत्यनुते मिमान नमामि ते नुत्यकृतागमाय।।109।।

यदा तमोपेततया ज्ञ चारुरुचाज्ञया तत्त्वमतोवधान।

न धावतोऽमस्तनुमोनतेन नते नमोनुत्तममोक्षदाय।।110।।

यताकृते पर्वतजे निवासे सेवा निजेतर्वशताकृतेन।

न ते कृताशंस(मान)मदा मयाभिभिया सदा सर्वपते कृताय।।111।।

चतुर्भिः श्लोकैः प्रस्तारः।।

हे आदिदेव, मम यमाद्भयमस्ति। अजावच्छागलीवत्। दुर्बलवत् दुर्बलत्वात्। अर्थिनस्त्वामर्थयन्ते इति भावः। हे अज, यतः रणन्तो जनः अर्थिताविद्भविता ममत्वं प्रति अर्थित्वस्य अन्तरज्ञो भविष्यतीति। भवजात्संसारजात्। ततः तमव रक्ष। हितः सन्। अमाय मायावर्जित। सत्यानुतिर्यस्य तत्संबोधनम् यमं मिमान हिंसन्। यमादागतं यदकृत्यं तदवेहि। येन नयेति, विचारयेत्यर्थः। तुभ्यं नमामि। नुत्याकृता आगमाः सर्वजनोपदेशार्थं शास्त्राणि येन तस्मै। वै सत्ये चैश्वर्ये च। एत कर्वुरवर्ण, हे भगवन्, ज्ञ अनन्त स्वामिन्। ततः सात्वतं (?) आज्ञया चारुरुचा मणिप्रदीप्त्यात्यर्थवधान। यमनियममयेत्यर्थः। अतो हेतोर्यदा समुक्तया यत्कारित्वेन क्षमैमत् (?) सतः सकाशाद्धावतः भ्रमणात् अन्यः तनुमः अल्पश्रीकः नास्ति। तुभ्यं (न) ते नम्रे विषये अनुत्तममोक्षदाय उत्कृष्टमोक्षदायिने एवंविधाय नमः। हे शर्व (सर्वपते) यताकृते संयुतात्मन्, निजेतः निःशेषेण जयनशील, इन स्वामिन्, मया वशताकृता आपत्तताकारिणा, पर्वतजे निवासे सेवा न कृता। अभितः समन्तात् भीर्यस्य तथाविधेन। सदा कृताय पुण्यसंचयायार्थम्। न विद्यते मदो यस्यां

तादृशसे(व)कमपि मां कृपया अवेति पूर्वोक्तवाक्यार्थः। चतुर्भिः कुलकम् (कालापकम्) ।।108।।109।। 110।।111।।

महामते मन्त्रपते परं पदं विना विभुं विन्दति कोऽतिभूतिमान्।

कृपाकृते कृत्तयमाय मायते नमो नमो नम्रहिते हि पाहि माम्।।112।।

हे महामते विशुद्धरणे दक्ष, तथा मन्त्रपते 'ससप्ततिकोटीनां मन्त्राणां प्रभुरव्ययः' इत्यागमे। त्वां प्रभुं विना परिहृत्य को जनः परं पदं मुक्तिरूपं विन्दति लभते। अतिशयेन भूतिमान्। अष्टविधैश्वर्ययुक्तः। नम्रहितप्राण....यदा त्वमेव मां पाहि रक्ष। (मा) यते, तुभ्यं कृपाकृते करुणापराय। कृत्त(य)माय छिन्नकालाय नमः। चतुर्महादेवस्वस्तिकबन्धः।।112।।

भो भो भविभुमावीभविभावैभव भीभुवः।

भवाव भववा भाविभवाभिभवभावभित्।।113।।

भो भो भव महेश्वर, भानां नक्षत्राणां विभुः चन्द्रः। जूटेन्दुरित्यर्थः। तस्य (आ) भा दीप्तयः, ताभिर्विगता इभस्य गजासुरस्य विभा वैभवं यस्मात्तादृश, त्वमव रक्ष। मामित्यर्थः। ....'अर्थ प्रकरणं लिङ्गम्' इत्यलंकारज्ञः। भावीयः भवाभिभवः संसारखलीकारस्तस्य यो भावः सत्ता तद्भित्। भव वाशब्दो विकल्पे। 'भो भोः' इति प्रधानामन्त्रणे। अव (र)क्ष। कृतान्तात्। भियो भयस्य (भवस्य) भूरुत्पत्तिस्थानम्। द्व्यक्षरोऽयं श्लोकः।।113।।

इति श्रीमहाकव्यवतारकृतमीश्वरशतकं सटीकं समाप्तम्।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक
अग्नि पुराण	: सम्पादक श्री राम शर्मा	बरेली 1967 ई०
अनुभवनिवेदनस्तोत्र	: अभिनवगुप्त	चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी द्वारा 1963 ई० में प्रकाशित Abhinava Gupta An historical and Philosophical Study (Dr. K.C. Pandey), पृ० 953 में प्रकाशित
अर्धनारीश्वर स्तोत्र (काव्यमाला चतुर्दश गुच्छक)	: कल्हण	चौखम्बा भारती, अकादमी, वाराणसी, 1987 ई०
ईश्वरशतक (काव्यमाला नवम गुच्छक),	: अवतार कवि	चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 1987 ई०
कश्मीर का संस्कृत साहित्य को योगदान	: डॉ० वेद कुमारी	जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर, एण्ड लैंग्वेजिज़, नहरमार्ग, जम्मू, 1987
काश्मीर शैव दर्शन	: डॉ० बल जिन्नाथ पण्डित	श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, 1973 ई०
काव्यप्रकाश:	: मम्मट (हिन्दी भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर)	ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, 1960 ई०
काव्यमाला, (षष्ठ गुच्छक)		चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 1987 ई०
काव्यमाला, (नवम गुच्छक)		चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 1987 ई०
काव्यमाला, (चतुर्दश गुच्छक)		चौखमबा भारती अकादमी, वाराणसी, 1987 ई०

काव्यमीमांसा	: राजशेखर	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1977 ई०
काव्यादर्श	: दण्डी (व्याख्याकार आचार्य श्रीरामचन्द्र मिश्र)	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1985 ई०
काव्यालङ्कार	: भामह	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1962 ई०
क्रमस्तोत्र	: अभिनवगुप्त	(डॉ० के०सी० पाण्डेयकृत अभिनवगुप्त ऐन हिस्टारिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी, पृ० 948-950 में मुद्रित)
तन्त्रालोक	: अभिनव गुप्त (जयरथकृत टीका सहित)	मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1987 ई०
दीनाक्रन्दन स्तोत्र	: लोष्टक	चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 1987 ई०
देवीशतक	: आनन्दवर्धन	चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 1987 ई०
देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र	: अभिनव गुप्त	(डॉ० के०सी० पाण्डेय की अभिनवगुप्त ऐन हिस्टारिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी के पृ० 952-53 में मुद्रित)
ध्वन्यालोक	: आनन्दवर्धन	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, वि०सं० 2028
प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु	: डॉ० पृथ्वी कुमार अग्रवाल	
बौद्ध धर्म दर्शन	: आ० नरेन्द्र देव	मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्रा०लि० दिल्ली, 1994 ई०
भक्तिरसामृत सिन्धु	: रूपगोस्वामी (व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर)	हिन्दी विभाग दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली, 1963 ई०
भगवद्भक्तिरसायनम्	: मधुसूदन सरस्वती	
भारतीय दर्शन	: श्री सतीशचन्द्र एवं श्री धीरेन्द्र मोहनदत्त रचित,	(श्री हरिमोहन झा एवं श्री नित्यानन्द मिश्र द्वारा अनुदित)
भैरव स्तोत्र	: अभिनव गुप्त	
राजतरंगिणी, (भाग-1-2)	: विश्वेश्वरानन्द	वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, वि०सं० 2020

लिङ्ग पुराण (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड) : सम्पादक पं० श्री राम शर्मा वृत्तरत्नाकर, केदार भट्ट — आचार्य संस्कृत परिषद्, उस्मानिया विश्व विद्यालय, हैदराबाद, 1969 ई०

शिवपुराण

शिवस्तोत्रावली, उत्पलदेव : (राजानक लक्ष्मण कृत हिन्दी टीका यक्त) — चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1964 ई०

शुक्रनीति : शुक्राचार्य (व्याख्याकार-जगदीशचन्द्र मिश्र) — चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1998 ई०

श्रीकण्ठचरितम् : मङ्खक — मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983 ई०, सत् शास्त्र प्रकाशन, श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवा संस्थान, मथुरा

श्रीमद्भगवद्गीता : व्यास — गीता प्रेस गोरखपुर (उ०प्र०) वि०सं० 2020

श्रीमन्महाभागवत : पी०वी० काणे (अनुवाद डॉ० इन्द्रचन्द्र जोशी) — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966 ई०

संस्कृत साहित्य का इतिहास : ए०बी० कीथ (भाषान्तरकार डॉ० मंगलदेव शास्त्री)

संस्कृत साहित्य का इतिहास : पोद्दार

संस्कृत पद्य देवतास्तोत्राणि : डॉ० सुरेन्द्र नारायण त्रिपाठी

साहित्य दर्पण : आ० विश्वनाथ (श्री शालग्राम कृत हिन्दी व्याख्या)

स्तवचिन्तामणि : भट्ट नारायण — कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, कश्मीर, ग्रन्थांक 10, 1918 ई०

स्तवचिन्तामणि विवृति : राजानक क्षेमराज — कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, कश्मीर, ग्रन्थांक 10, 1918 ई०

स्तवचिन्तामणि का एक अध्ययन और कश्मीर शैव दर्शन में उसका स्थान : (Ph.D. शोध-प्रबन्ध) डॉ० जय किशन — जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू, 1980 (अप्रकाशित)

(ख) अंग्रेजी-ग्रन्थ

Abhinava Gupta An Historical and Philosophical Study	: Dr. K.C. Pandy	The Chaukhamba Sanskrit series office, Varanasi, 1963.
Buddhastotrasangraha	ed. by S.Ch. Vidyabhushana	Asiatic Society of Bangal, Calcutta, 1908.
Contribution of Kashmir to Sanskrit Literature	Dr. K.C. Nagarajan	
History of Indian Literature,	M. Winternitz	

BOOK
EASTERN EBL LINKERS

Please mail your order to : Ph : 23970287

Eastern Book Linkers

(INDOLOGICAL PUBLISHERS)

5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,

Delhi - 110007

e-mail: easternbook@mantraonline.com

ISBN 81-7854-048-7

9 788178 540481

डॉ० केदार नाथ शर्मा

पितृनाम : श्री रामेश्वर प्रसाद अर्याल, श्रीमती गङ्गा देवी।
जन्मस्थान : देउखेल, मकवानपुर, नेपाल।

शिक्षा : भुटनदेवी हाई स्कूल, हेटौडा, (नेपाल), संस्कृत अध्ययन के लिए 1969 में 10 वर्ष की आयु में भारत आगमन। **प्राज्ञ, विशारद** : गुरुनानकदेव यूनिवर्सिटी, अमृतसर, 1971, 1972। **शास्त्री (बी०ए०)** : राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 1975। **एम०ए० (संस्कृत)** : जम्मू यूनिवर्सिटी, जम्मू, 1977। **एम० फिल०** : जम्मू यूनिवर्सिटी, जम्मू, 1978। **पी-एच०डी० (संस्कृत)** : जम्मू यूनिवर्सिटी, जम्मू, 1984। **एम०ए०** : दर्शन एवं शिलालेख (विशिष्ट पत्र), जम्मू यूनिवर्सिटी। **पी०जी० डिप्लोमा** : (भाषाविज्ञान), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी 1986 । **डी०लिट्०** : (भाषाविज्ञान), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (परिणाम प्रतीक्षित)।

अध्यापन : 1986 ई० से जम्मू विश्वविद्यालय में अध्यापनरत।

प्रकाशन : 1. रसाभास और भावाभास, 1997, 2. संस्कृत में रूपस्वनिमिक विश्लेषण, 1997, 3. कश्मीरी स्तोत्र परम्परा एवं दीनाक्रन्दन स्तोत्र, 2004, 4. त्रिवेणी (भाषा शास्त्र, दर्शन, काव्यशास्त्र एवं संस्कृत-संस्कृति विषयक समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह) 2004, 5. कश्मीर के काव्याचार्य, 2004

शोधपत्र : विभिन्न शोध पत्रिकाओं में 30 से अधिक शोध-पत्र प्रकाशित।

सम्प्रति : भाषिक ध्वनियों के सूक्ष्म विश्लेषण के प्रयोजन से संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू में बहु-उद्देश्यीय Phonetic Laboratory के संचालन में संलग्न।